रश्मियां आर्हत वाङ्मय की

संवाद भगवान से

१

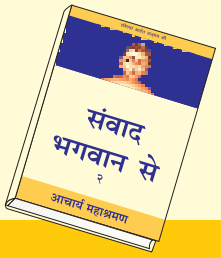

आचार्य महाश्रमण

संवाद भगवान से

(भाग-१)

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

Books are available online at
http://books.jvbharati.org

अष्टम् संस्करण : जून २०१६

मूल्य : १००/- (सौ रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि. उदयपुर

अर्हम्

भाषण देना मेरा दैनन्दिन कार्य बना हुआ है। मैं आगमाधारित वक्तव्य देता रहा हूं। उन वक्तव्यों के आधार पर कुछ निबन्ध भी बन जाते हैं और उन निबन्धों के आधार पर कभी-कभी पुस्तक भी बन जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'संवाद भगवान से' उसी प्रक्रिया से निष्पन्न हुई है। साध्वी सुमतिप्रभा ने वक्तव्यों का निबन्धीकरण किया और निबन्धों का पुस्तकीकरण किया। इस कार्य में उसका श्रम श्लाघनीय है। मेरा कार्य वक्तव्य देना है जो कि पुस्तक का मूल आधार है। उसके बाद की प्रक्रिया से मैं लगभग अस्पृष्ट रहा हूं। पुस्तक को सौष्ठव तक पहुंचाने में मुनि कुमारश्रमण व मुनि विश्रुतकुमार ने अपनी मेधा का उपयोग किया है।

प्रस्तुत पुस्तक को परम पूज्य गुरुदेव तुलसी और परम पूज्य आचार्य महाप्रज्ञ के चरणों में समर्पित करता हूं। पाठकों के लिए यह सामग्री आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाली बने। शुभाशंसा।

आचार्य महाश्रमण

कहां क्या मिलेगा?

१. संवेग से क्या मिलेगा?	१
२. निर्वेद से क्या मिलेगा?	७
३. धर्मश्रद्धा से क्या मिलेगा?	१०
४. शुश्रूषा से क्या मिलेगा?	१५
५. आलोचना से क्या मिलेगा?	२१
६. निन्दा से क्या मिलेगा?	२७
७. गर्हा से क्या मिलेगा?	३०
८. सामायिक से क्या मिलेगा?	३५
९. चतुर्विंशतिस्तव से क्या मिलेगा?	४१
१०. वन्दना से क्या मिलेगा?	४७
११. प्रतिक्रमण से क्या मिलेगा?	५२
१२. कायोत्सर्ग से क्या मिलेगा?	५८
१३. प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?	६१
१४. स्तव और स्तुति से क्या मिलेगा?	६७
१५. काल प्रतिलेखन से क्या मिलेगा?	७४
१६. प्रायश्चित्त से क्या मिलेगा?	८०
१७. क्षमा से क्या मिलेगा?	८५
१८. स्वाध्याय से क्या मिलेगा?	९१
१९. वाचना से क्या मिलेगा?	९६
२०. प्रतिप्रश्न से क्या मिलेगा?	१०१

२१. परिवर्तना से क्या मिलेगा? १०५
२२. अनुप्रेक्षा से क्या मिलेगा? १११
२३. धर्मकथा से क्या मिलेगा? ११४
२४. श्रुताराधना से क्या मिलेगा? ११८
२५. मन की एकाग्रता से क्या मिलेगा? १२२
२६. संयम से क्या मिलेगा? १२७
२७. तप से क्या मिलेगा? १३२
२८. निर्जरा से क्या मिलेगा? १३८
२९. सुख कामना के त्याग से क्या मिलेगा? १४१
३०. अनासक्ति से क्या मिलेगा? १४६
३१. एकांतवास से क्या मिलेगा? १५१

१

संवेग से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**संवेगेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! संवेग से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणंताणुबंधि-कोहमाणमायालोभे खवेइ। कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ।** संवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा की प्राप्ति होती है। धर्मश्रद्धा से संवेग अधिक पुष्ट होता है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय हो जाता है। कर्म का बंधन नहीं होता है। तद्हेतुक मिथ्यात्व विशोधि करके दर्शन की आराधना करता है। दर्शन-विशोधि से विशुद्ध कोई-कोई व्यक्ति उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं और कुछ उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते।

संवेग का अर्थ है—मुमुक्षा भाव अर्थात् मुक्त होने की इच्छा। मुमुक्षा भाव से अनुत्तर धर्म के प्रति गहरी आस्था हो जाती है। ज्यों-ज्यों आस्था गहरी होती है त्यों-त्यों संवेग और ज्यादा पुष्ट हो जाता है। एक चक्र है—संवेग से धर्मश्रद्धा की पुष्टि और धर्मश्रद्धा से पुनः संवेग की पुष्टि। जैसे इन्द्रिय विषयों के संदर्भ में कहा गया—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।

जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती है, वैसे-वैसे विषयों से विरक्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है और ज्यों-ज्यों विषयों से विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है, त्यों-त्यों उत्तम तत्त्व की प्राप्ति और अधिक होती चली जाती है। इसी प्रकार संवेग से धर्मश्रद्धा की वृद्धि और धर्मश्रद्धा से संवेग की पुष्टि होती है।

सम्यक्त्व के पांच प्रकार हैं—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सास्वादन सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व। इनमें सबसे उत्तम सम्यक्त्व होता है क्षायिक सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व आने के बाद फिर वापिस कभी नहीं जाता। यह हमेशा के लिए बना रहता है। जब परम संवेग होता है, गहरी धर्मश्रद्धा होती है तो क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने विजयचंदजी पटवा के लिए एक संभावना प्रकट की कि पटवाजी क्षायिक सम्यक्त्व के धनी प्रतीत होते हैं यानी उनकी इतनी मजबूत आस्था थी। आदमी एक बार अनन्तानुबंधी चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ को क्षीण कर देता है तो फिर नए सिरे से अनन्तानुबंधी चतुष्क का बंध नहीं हो सकता। जिसको क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई वह उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त कर लेगा, बशर्ते क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति से पहले आयुष्य का बंध नहीं हुआ हो। यदि आयुष्य का बंध पहले हो चुका है तो तीसरे भव का अतिक्रमण तो करेगा ही नहीं। एक भव के बाद अगले भव में वह मोक्ष में चला जाएगा। सम्यक्त्व का कितना बड़ा लाभ होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से आदमी की दृष्टि निर्मल हो जाती है। दृष्टि किसकी कहां पर है? यह खास बात है। हमारे जीवन में और अध्यात्म के क्षेत्र में दृष्टि का बड़ा महत्त्व है। सम्यक् दृष्टि संपन्न व्यक्ति आचार का पालन करता है उसको बहुत बड़ा लाभ मिलता है और मिथ्यादृष्टि व्यक्ति मिथ्यात्व अवस्था में आचार का पालन करता है तो उसको विशेष लाभ नहीं मिलता है। इसलिए सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति हो, यह धार्मिक आदमी का लक्ष्य रहना चाहिए। सम्यक् दृष्टि की

प्राप्ति संभावित रूप में हो गई हो तो उसको पुष्ट बनाने का और मजबूत बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए। सम्यक्त्व निर्मल है, पुष्ट है तो फिर शंका आदि नहीं होगी। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—**संशयात्मा विनश्यति।** संशयशील आदमी की आत्मा नष्ट हो जाती है। एक तो शंका ज्ञान के लिए, जानने के लिए होती है, वह अलग बात है। जो शंका नेगेटिव रूप में होती है वह सम्यक्त्व को ढ़ीला बनाने वाली और कमजोर बनाने वाली होती है। शंकाशील आदमी कभी कुछ कठिनाई को भी प्राप्त हो जाता है।

सेठ के एक लड़का था। वह बड़ा शंकालु था। बात-बात में उसको शंका हो जाती। कोई मानसिक बीमारी-सी हो गई। जैसे—रात को सोता तो मन में यह शंका रहती कि सो तो रहा हूं यदि छत गिर गई तो? कहीं बाहर जाता तो सोचता, यदि एक्सीडेंट हो गया तो? इस प्रकार मन में शंका होती रहती थी। हालांकि कभी दुर्घटना भी हो सकती है, कभी छत भी गिर सकती है पर यों दिमाग में शंका बनाए रखने से जीना भी मुश्किल हो जाता है। आखिर कुछ विश्वास के आधार पर या निःशंक होकर चलना होता है। शंका में कब तक रह पाएंगे और कैसे शांति से जी पाएंगे? लड़का नाई से हजामत करवाता तो सोचता अगर नाई ने सिर काट दिया या गला काट दिया तो क्या होगा? पिता ने काफी समझाने का प्रयास किया और कहा—बेटा! यों शंका नहीं करनी चाहिए। हर बात में रोज शंका करना ठीक नहीं। आदमी को कुछ बातें नियति पर छोड़कर चलना चाहिए और निश्चिन्त होकर रहना चाहिए।

दिल्ली में एक दुबला-पतला आदमी था। वह कहता कि मैं यमुना के पुल को जब पार करता हूं, पुल के ऊपर चढ़ता हूं तो मेरे मन में शंका होती है कि पुल गिर गया तो क्या होगा? हालांकि पुल के ऊपर सैंकड़ों गाड़ियां चलती हैं। क्या उस दुबले-पतले आदमी के चलने से पुल गिर जाएगा? पर मन में शंका होती रहती है। लड़के को पिता ने समझाने का प्रयास किया पर वह समझ नहीं सका। एक दिन पिता का स्वर्गवास हो गया। लड़का घर का मालिक बन गया। अब उसको यह शंका होने लगी कि इतने पहरेदार हैं कहीं इन्होंने ही चोरी कर ली तो? उसने सारे पहरेदारों की छुट्टी कर दी। आसपास के गांवों में डाकू रहते थे। उन्हें ज्ञात हुआ कि सेठ तो मर गया है और लड़के ने

सारे पहरेदारों की छुट्टी कर दी है। उन्होंने सोचा, अब हमें डाका डालने का अच्छा मौका मिल सकेगा। डाकू आए और सारा माल ले गए। लड़का बिलकुल निर्धन हो गया। तब उसको एक बात याद आई कि पिताजी ने मुझको एक बार कहा था कि बेटा! कभी कोई संकट आ जाए तो हमारी कुलदेवी बड़ी दयालु है। तुम कुलदेवी की आराधना करना, देवी संकट का निवारण कर देगी। उसको आराधना की सारी विधि बता दी गई। वह गांव बाहर गया। एक पेड़ पर आठ रस्सियों की एक छींकी बनाई। विधि यह थी कि छींकी में बैठकर जप करना। देवी के नाम की एक माला फेरना और एक रस्सी को काटना। दूसरी माला फेरना और दूसरी रस्सी को काटना। तीसरी माला फेरना और तीसरी रस्सी को काटना। यों करते-करते आठवीं रस्सी कटेगी तब देवी हाजिर हो जाएगी और मनोकामना पूरी कर देगी। लड़का छींकी में बैठा, एक माला फेरी और एक रस्सी को काटा। दूसरी माला फेरी और दूसरी रस्सी को काटा। तीसरी माला फेरी और तीसरी रस्सी को काटा। जब तीन रस्सियां कट गई तो छींकी कुछ टेढ़ी हो गई। उसने सोचा, कहीं मैं गिर न जाऊं। वह नीचे उतर गया। फिर सोचा कि आठ मालाएं फेरे बिना और आठों रस्सियां कटे बिना काम होगा नहीं। वह पुनः छींकी में बैठा, फिर शंका हुई, फिर नीचे उतरा। इस प्रकार वह कभी छींकी में बैठता और कभी नीचे उतरता। उसी समय एक चोर आया, जिसने राजमहल में चोरी की थी। उसे पकड़ने के लिए राजपुरुष दौड़ रहे थे। चोर जब लड़के के पास पहुंचा और देखा कि वह कभी छींकी के अन्दर बैठता है और कभी बाहर आता है तो चोर ने उस लड़के से पूछा—तुम क्या कर रहे हो?

युवक—भाई! मुझे कुलदेवी की माला फेरकर अनुष्ठान करना है परन्तु मेरे मन में शंका होती रहती है इसलिए अनुष्ठान पूरा नहीं हो रहा है।

चोर—देवी क्या सहायता कर सकती है?

युवक—देवी आकाशगामिनी विद्या दे सकती है।

चोर—भैया! यह मंत्र मुझे दो। उसने मंत्र लिया, छींकी में बैठा, आठों रस्सियां लगाई और बोला—हे जगदम्बे! आठ माला फेरुं इतना समय मेरे पास नहीं है, राजपुरुष मुझे पकड़ने के लिए आ रहे हैं। मैं तो तुम्हारे नाम की एक ही माला फेरूंगा, श्रद्धा-भक्ति के साथ फेरूंगा और आठों रस्सियां एक साथ

काटूंगा। तुम मुझे आकाशगामिनी विद्या देना। चोर ने वैसा ही किया। आठों रस्सियां कटते ही देवी प्रकट हुई और कहा—तथास्तु। चोर आकाश में उड़ने लग गया। जो सामान चोरी करके लाया था वह उस लड़के के पास छोड़ गया। राजपुरुष ने समझा कि चोरी इसी लड़के ने की है, तभी राजमहल का सामान इसके पास है। उस लड़के को पकड़कर राजा के पास लाया गया। उधर जो असली चोर था, उसके मन में उस लड़के के प्रति कृतज्ञता का भाव आया। उसने सोचा—जिसने मुझे ज्ञान दिया, मंत्र दिया और मुझे बचा लिया, मेरी जगह अगर वह पकड़ा गया तो अनर्थ हो जाएगा। तत्काल वह चोर उड़ता-उड़ता राजमहल के पास पहुंचा। राजा बैठा था, लड़के से बात कर रहा था। चोर ऊपर से बोला—महाराज! असली चोर तो मैं हूं। यह बेचारा निर्दोष है। इसको छोड़ दीजिए।

राजा—तुम नीचे आओ।

चोर—महाराज! मैं इतना भोला नहीं हूं कि नीचे आ जाऊं और आप मुझे पकड़ लें।

राजा—मैं तुम्हें अभयदान देता हूं।

तब चोर नीचे आया। राजा को प्रणाम किया।

राजा—तुमने चोरी क्यों की?

चोर—महाराज! मैं अभावग्रस्त था, खेती-बाड़ी कुछ नहीं थी, अकाल था, कोई उपाय समझ में नहीं आया तब मैंने चोरी का रास्ता अपना लिया। राजा ने सोचा, यह आदमी निर्भीक और साफ-साफ कहने वाला है। इसमें मनोबल और अभय का भाव है।

राजा—तुम्हारी व्यवस्था मैं कर दूं फिर क्या करोगे?

चोर—अगर आप मेरे परिवार की व्यवस्था कर देते हैं तो फिर मैं चोरी नहीं करूंगा।

राजा ने सोचा कि आदमी तो अच्छा लगता है, झूठ भी नहीं बोल रहा है और मनोबली भी है। इसको तो मंत्री बना देना चाहिए। चूंकि कुछ दिनों से मंत्री का स्थान रिक्त था। राजा ने चोर को मंत्री के रूप में नियुक्त कर दिया और उस लड़के का थोड़ा सहयोग कर, रुपया-पैसा देकर उसको अपने घर भेज दिया।

चोर में शंका नहीं थी, निःशंक था, इसलिए देवी को भी आकृष्ट कर लिया, आकाशगामिनी विद्या भी मिल गई और मंत्री भी बन गया। वह लड़का इतना धनवान था किन्तु शंकालु होने के कारण निर्धन हो गया। इस प्रकार शंकाशील आदमी अपना विनाश भी कर लेता है।

सम्यक्त्व के संदर्भ में कहा गया कि विकृति के रूप में मन में शंका होती रहती है तो आदमी का सम्यक्त्व ढ़ीला पड़ जाता है और कभी सम्यक्त्व नष्ट भी हो सकता है, मिथ्यात्व का भाव भी आ सकता है। अतः साधु और श्रावक यह चिन्तन करे कि मेरे में धर्मश्रद्धा कितनी मजबूत है? मेरा सम्यक्त्व कितना पुष्ट है? धर्मश्रद्धा तब मजबूत होगी जब मन में विरक्ति की भावना होगी। विरक्ति अर्थात् मोक्षाभिलाषा यानी संसार से मुक्त होने की भावना होने से आदमी का सम्यक्त्व पुष्ट होता है।

२

निर्वेद से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**निव्वेएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! निर्वेद से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरंभपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ।** निर्वेद से वह देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी कामभोगों में तीव्र ग्लानि को प्राप्त होता है, सब विषयों में विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ का परित्याग करता है। आरम्भ का परित्याग करता हुआ संसार मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि मार्ग को प्राप्त होता है।

निर्वेद संसार से विरक्ति का भाव है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति में विरक्ति की चेतना जागनी चाहिए। हर सम्यग् दृष्टि व्यक्ति सर्वथा विरक्ति न कर सके परन्तु उनमें विरक्ति के प्रति आकर्षण होना चाहिए। जिस आदमी में विरक्ति के प्रति आकर्षण होता है, वह व्यक्ति त्याग-प्रत्याख्यान की ओर आगे बढ़ सकता है, अनासक्ति का विकास कर सकता है।

सम्यक् दृष्टि जीव धार्मिक होता है। वह कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है किन्तु उसके मन में अनासक्ति की चेतना रहती है। वह यह सोचता है कि परिवार का पालन-पोषण करना, सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है। परन्तु आखिर मैं अकेला हूं। एक धाय माता बालक को खिलाती है, पिलाती है, नहलाती है,

उसकी सेवा करती है परन्तु वह मन में इस बात को अच्छी तरह जानती है कि बालक मेरा नहीं है। इसी तरह सम्यक् दृष्टि धार्मिक आदमी विचार करे कि मैं परिवार में रहता हूं, परिवार की सेवा करता हूं किन्तु आखिर परिवार के लोग भी मेरे नहीं हैं। इनसे भी वियोग होने वाला है।

यह संबंधों का जगत भी विराट है। संबंध आगे भी रह सकते हैं। यहां किसी के साथ प्रेम का, मित्रता का संबंध है तो अगले जन्मों में भी वह मित्रता का संबंध रह सकता है। यहां कोई शत्रु है तो अगले जन्मों में भी उसके साथ शत्रुता का संबंध रह सकता है किन्तु परिवार के लोग कर्मों को भोगने में कितना साथ निभायेंगे? अपने द्वारा कृत कर्म स्वयं को ही भोगने पड़ते हैं। इसलिए सम्यक् दृष्टि व्यक्ति यह विचार करे कि मैं मोहासक्ति में न रहूं। जब निर्वेद का अभ्यास पुष्ट होता है तब व्यक्ति के मन में विरक्ति, अनाकर्षण या अनासक्ति की चेतना जागती है।

एक युवक महात्मा के पास गया और कहा—बाबाजी! मैं बहुत गरीब हूं, मुझे कुछ दो।

सन्त ने कहा—युवक! मैं तो स्वयं अकिंचन हूं, मैं क्या दूं।

युवक—बाबा! कुछ तो दो।

बाबा—एक चीज मुझे किसी ने दी थी। मैंने अभी तुम्हारे आने से पहले उसको बाहर फेंका है। वह तुम ले लो। संभवतः तुम्हारे काम की चीज हो सकती है।

युवक बाहर गया और देखा, एक कीमती हीरा वहां पड़ा था। उसने सोचा, इसको लेने से मैं बहुत धनवान बन जाऊंगा। किन्तु कुछ विरक्ति की चेतना जाग गई। प्रश्न उठा कि इतना कीमती हीरा है फिर इसको बाबाजी ने क्यों फेंक दिया? उन्होंने हीरे को अपने पास क्यों नहीं रखा? हीरे को उठाये बिना ही युवक बाबा के पास आया और बोला—बाबा! आपके पास वह कौनसी चीज है जिसको पाकर आपने हीरे को भी फेंक दिया?

तब बाबा ने कहा—युवक! मेरे पास विरक्ति है।

युवक—इसका मतलब है हीरे से भी ज्यादा कीमती चीज तो विरक्ति है। मैं फिर हीरे को क्यों लूं। जिसको आपने फेंक दिया उसको मैं क्यों उठाऊं? मैं

भी विरक्ति को ही प्राप्त करूंगा और साधना के पथ पर आगे बढ़ूंगा।

एक साधु के लिए तो विरक्ति महत्त्वपूर्ण है ही, एक गृहस्थ द्वारा भी बारहव्रत आदि को स्वीकार करना विरक्ति की चेतना को प्राप्त करना है। उसके साथ और ज्यादा त्याग-संयम को बढ़ाना विरक्ति को पुष्ट करना है। सम्यग् दृष्टि होने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बन जाता है और वह अध्यात्मोन्मुखी हो जाता है। आगे चलकर वह **एगत्तमुहे** यानी एकमात्र आत्मा की ओर ही ध्यान रहे, ऐसा प्रयास करे। संसार में रहते हुए भी कमल की तरह निर्लेप रहे। यह निर्लेपता तभी संभव है जब आदमी में विरक्ति की चेतना का विकास होता है। कई बार विरक्ति कुछ निमित्तों से भी जाग सकती है। ज्ञान से भी विरक्ति का विकास होता है। जैसे-जैसे सम्यग्ज्ञान बढ़ता है, वैसे-वैसे अध्यात्म चेतना के साथ विरक्ति की चेतना को भी बढ़ने का मौका मिलता है। जब विरक्ति का भाव विकसित होता है तब व्यक्ति आरंभ का परित्याग करता है। ज्ञानी आदमी के ज्ञान का सार यह है कि वह प्राणियों की हिंसा न करे, अहिंसा और समता का विकास करे। पांच इन्द्रियों के पांच विषय हैं—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। विरक्त आदमी इन विषयों का उपयोग तो करता है किन्तु आसक्ति के भाव से कुछ विरक्त हो जाता है, अलग हो जाता है। आसक्ति टूटने से परम की ओर कुछ आगे बढ़ जाता है और परम का दर्शन कर लेता है। अनेक लोग धर्मानुरागी होते हैं। वे साधु संतों से प्रेम रखने वाले होते हैं। संतों के पास आते हैं और यदाकदा प्रवचन आदि भी सुनते हैं किन्तु इस धर्मानुराग के साथ त्याग करने की और संयम करने की चेतना भी जागे। जब आदमी संयम की ओर आगे बढ़ता है तब वह संसार मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्ध गति को प्राप्त हो जाता है।

३

धर्मश्रद्धा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**धम्मसद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! धर्म के प्रति श्रद्धा रखने से क्या प्राप्त होता है? उत्तर दिया गया—**धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ अणगारे णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ।** धर्म के प्रति श्रद्धा रखने से वह वैषयिक सुखों की आसक्ति को छोड़ विरक्त हो जाता है, अगारधर्म यानी गृहस्थी को त्याग देता है। वह अनगार होकर छेदन-भेदन आदि शारीरिक दुःखों तथा संयोग-वियोग आदि मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है और निर्बाध सुख को प्राप्त करता है।

जब तक आदमी की धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा नहीं होती है, तब तक वह सुख-सुविधा व एशो-आराम को खोजता रहता है। जब धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा हो जाती है, तब उसका मन साधना-आराधना में लग जाता है। एशो-आराम और भोग-विलास से उसका मन विकृष्ट होने लगता है। फिर उसके मन में गृहत्यागी बनने की भावना आ जाती है। वह साधु बन जाता है। साधु बनने का मतलब है एक दिन वह परम सुख को प्राप्त हो जाता है। परम सुख को पाना है तो कभी न कभी साधु बनना ही होगा। चाहे इस जन्म में बने या आगे कभी बने। साधुत्व को प्राप्त किए बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि माल भी खाना और मोक्ष भी

जाना। मुक्ति के लिए त्याग, संयम करना होगा, संन्यास को स्वीकार करना होगा।

हमारा संन्यासी वर्ग तो साधना के लिए समर्पित है ही। यदि श्रावक समाज की ओर भी ध्यान दिया जाए तो मुझे लगता है कुछ-कुछ लोगों में धर्म के प्रति अच्छी श्रद्धा होती है। वे उपासनात्मक धर्म करते हैं, साधना में समय लगाते हैं और कुछ लोग जो व्यवसाय में हैं, सर्विस में है, उनमें धर्म के प्रति इस रूप में श्रद्धा होती है कि वे अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान होते हैं, ईमानदारी के साथ अपना कर्त्तव्य निर्वाह करना चाहते हैं। मेरा मंतव्य है कि नैतिकता और ईमानदारी अच्छा गृहस्थ बनने के लिए, शांतिमय जीवन जीने के इच्छुक व्यक्ति के लिए नितान्त अपेक्षित है। जहां नैतिकता, प्रामाणिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा का अभाव है, वहां भय पैदा हो सकता है कि मैंने ऐसा कर तो दिया, अब क्या होगा? विभिन्न प्रकार के तनाव अनैतिक आचरण करने वाले के मन में पैदा हो सकते हैं। कुछ लोग बड़े यथार्थनिष्ठ होते हैं, ईमानदारी की आराधना करने वाले होते हैं। वे कुछ अंशों में कष्टों को स्वीकार कर लेते हैं परन्तु बेईमानी को स्वीकार नहीं करते हैं।

बंगाल के किसी विद्यालय में सूर्यसेन नामक व्यक्ति अध्यापक के रूप में सेवा दे रहा था। वह कर्त्तव्यनिष्ठ शिक्षक था। परीक्षा का समय आया। एक कक्षा में उसकी ड्यूटी लगाई गई। उसने देखा कि एक लड़का, जो प्रिंसिपल का पुत्र था, नकल कर रहा था। तत्काल सूर्यसेन ने उसे पकड़ा और फटकारा कि तुम यह क्या कर रहे हो? लड़के ने अपना परिचय दिया—मैं प्रिंसिपल का बेटा हूं। सूर्यसेन ने इस बात की परवाह नहीं की और उसे नकल करने से रोक दिया। परिणाम यह आया कि वह फेल हो गया। अन्य शिक्षकों ने सोचा कि अब सूर्यसेन की छुट्टी होने वाली है, किन्तु हुआ कुछ उल्टा। प्रिंसिपल ने सूर्यसेन को बुलाया और कहा—मैं तुम्हारी कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रसन्न होकर तुम्हें 'कर्त्तव्यनिष्ठ' अध्यापक के सम्मान से सम्मानित करना चाहता हूं। सूर्यसेन! अगर तुम मेरे बेटे को नकल करने से नहीं रोकते और यह बात मुझे ज्ञात हो जाती तो मैं तुम्हें नौकरी से बर्खास्त कर देता। सूर्यसेन ने कहा—सर! यदि आप अपने बेटे को नकल करने की छूट देने का ईशारा कर देते तो मैं स्वयं अपना त्याग पत्र दे देता।

शिक्षक में कर्त्तव्यनिष्ठा की अपेक्षा है। न केवल शिक्षा के क्षेत्र में अपितु किसी भी क्षेत्र में आदमी कार्य करे, प्रामाणिकता के साथ, कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ करे। जहां प्रामाणिकता होती है, वहां कार्य अच्छा होता है। जहां अप्रामाणिकता है, वहां कार्य में गड़बड़ी होने की संभावना बनी रहती है। विभिन्न क्षेत्रों में लोग कार्य करते हैं। कोई वकालात, कोई व्यापार, कोई चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य करते हैं। ये आजीविका के साधन हैं। इस संदर्भ में मैंने महात्मा गांधी के विचार पढ़े। उन्होंने लिखा था—'आदमी को सेवा की भावना से कार्य करना चाहिए।' पैसे की भी उसे अपेक्षा रहती है, किन्तु पैसा नम्बर दो पर रहना चाहिए और सेवाभावना प्रथम नम्बर पर रहनी चाहिए। जहां ड्यूटी के प्रति निष्ठा हो, सेवाभावना हो, वहां प्रामाणिकता का होना भी कुछ आसान हो सकता है।

दुनिया में बेईमानी है तो ईमानदारी भी है। धर्म के प्रति श्रद्धा होगी तो ईमानदारी आ सकेगी, संयम की चेतना भी जागृत हो सकेगी। वैज्ञानिक सर रमण भौतिकविज्ञान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। उन्हें अपने विभाग के लिए सहयोगी की अपेक्षा थी। उन्होंने अनेक व्यक्तियों से साक्षात्कार लिया पर सफलता नहीं मिली। कुछ समय बाद सर रमण ने देखा कि एक व्यक्ति, जिसको मैंने साक्षात्कार में अस्वीकार कर दिया था, वह बार-बार ऑफिस के आसपास चक्कर लगा रहा है। सर रमण ने कहा—भैया! तुम साक्षात्कार में असफल हो गए थे, फिर बार-बार यहां चक्कर क्यों लगा रहे हो? वह व्यक्ति बोला—सर! आपका निर्णय मुझे स्वीकार है। किन्तु आने-जाने के लिए जो मुझे पैसे दिए गए थे, वे संभवतः कुछ ज्यादा दे दिए गए। इसलिए जो अतिरिक्त पैसा है, उसे वापिस सौंपने के लिए मैं लिपिक का इन्तजार कर रहा हूं। लिपिक आ जाए तो उसे पैसा वापिस दे दूं और फिर यहां से चला जाऊं। सर रमण ने कहा—तुम जैसा चरित्रनिष्ठ आदमी मिलना मुश्किल है इसलिए मैं तुम्हारी इसी वक्त नियुक्ति करता हूं।

गार्हस्थ्य का जीवन जीने वालों में भी कुछ-कुछ व्यक्ति बहुत उच्चकोटि के होते हैं। उनकी उच्च विचारधारा और सदाचार आकर्षण का केन्द्र होता है, उनके प्रति सम्मान की भावना पैदा करने वाला होता है। गृहस्थ समाज में साधुओं के प्रति भक्ति होती है और साधु का भी कर्त्तव्य होता है कि वह गृहस्थ का असम्मान न करे, आशातना न करे। उनकी अपनी भावनाएं हैं।

उनकी अपनी कुछ अपेक्षाएं हो सकती हैं। यथासंभव यथा औचित्य हम उनकी भावनाओं, अपेक्षाओं को पूरा करें। कदाचित न कर सकें तो कम से कम सम्मानपूर्ण व्यवहार करें। जनता को संयम का मार्ग बताएं। उन्हें कुछ प्रेरणा दें, परामर्श दें। यदि सौ व्यक्तियों में से पांच व्यक्तियों में भी रूपान्तरण घटित हो जाता है तो समझना चाहिए कि हमारा श्रम सार्थक हो गया। वे पांच व्यक्ति सदाचार की दिशा में अग्रसर हो जाते हैं और उनकी धर्म के प्रति श्रद्धा मजबूत हो जाती है तो फिर वे न कठिनाइयों की परवाह करेंगे और न प्राणों की परवाह करेंगे। वे अपने प्रण को और अपने आराध्य को सामने रखते हैं और धर्म की आराधना में लगे रहते हैं। अर्हन्नक के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ। एक बार वह व्यापार के लिए जलपोत द्वारा समुद्र-यात्रा कर रहा था। जब उसका पोत समुद्र के मध्य पहुंचा, एक विकराल रूप वाला देव उपस्थित हुआ। उसने अर्हन्नक से कहा—तुम धर्म को छोड़ दो। अर्हन्नक—धर्म छोड़ने की वस्तु है ही नहीं। मैं धर्म को नहीं छोड़ सकता। देव—तुम धर्म को नहीं छोड़ोगे तो मैं तुम्हारे पोत को समुद्र में डुबो दूंगा। पोत के सारे यात्री कांपने लगे किन्तु अर्हन्नक तो अपनी साधना में लीन था, तिलमात्र भी विचलित नहीं हुआ। आखिर देव अर्हन्नक के समक्ष उपस्थित हुआ और बोला—इन्द्र ने देव-सभा में तुम्हारी धर्मनिष्ठा की प्रशंसा की थी। इसलिए मैं तो तुम्हारी परीक्षा लेने आया था। तुम्हारी साधना को साधुवाद। मौत सामने आ जाने पर भी तुम विचलित नहीं हुए और धर्म के प्रति आस्थावान बने रहे। आचायश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है—

मौत से डरता नहीं मैं, मौत मुझसे डर चुकी है।
मौत से मरता नहीं मैं, मौत मुझसे मर चुकी है।।

जो व्यक्ति मौत से डरता नहीं है, परम लक्ष्य को सामने रखता है, वह अपने जीवन में कुछ विशेष हासिल कर सकता है।

आदमी कहीं भी रहे, धर्म उसके साथ रहे। जैसे शरीर आत्मा के साथ रहता है, वैसे धर्म भी आत्मा के साथ ओतप्रोत रहे। धर्म के प्रति श्रद्धा होने से जीवन-व्यवहार उन्नत बनता है। यदि आदमी को शांति चाहिए, परम सुख चाहिए तो धर्म ही एक उपाय है। मैं केवल उपासना को ही धर्म नहीं मानता, केवल माला जपने और आंख बंदकर ध्यान करने को ही धर्म नहीं मानता। मेरा विश्वास तो जीवन में नैतिकता, सदाचार और समता आने पर है। हमारे राग-द्वेष के भाव कम हों, ऐसी साधना करें। यह धर्मश्रद्धा आदमी को शांति दिला

सकेगी, तनाव-मुक्ति की स्थिति में रख सकेगी। आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया है कि धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा होने से आदमी एशो-आराम, सुख-सुविधा से विप्रकृष्ट और भीतर की ओर आकृष्ट होने लगता है। वह परम पुनीत धर्मश्रद्धा हम सबके मन-मंदिर में निवास करे, जिससे आत्मिक सुख व मानसिक शांति की दिशा में आगे बढ़ सकें।

४

शुश्रूषा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?** गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणय-पडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणिय-मणुस्सदेवदोग्गईओ निरुंभइ, वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्स-देवसोग्गईओ निबंधइ, सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विषयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ।** गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से वह विनय को प्राप्त होता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता, इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देव संबंधी दुर्गति का निरोध करता है। गुरु की श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव-संबंधी सुगति से संबंध जोड़ता है तथा सिद्धि सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। वह विनय-मूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियों को विनय के पथ पर ले आता है।

धार्मिक साहित्य में गुरु को बड़ा ऊंचा स्थान दिया गया है। गुरु का एक मुख्य कार्य है—अंधकार को दूर करना, अज्ञान के तिमिर को दूर करना। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**गु-शब्दस्तु अंधकारः रुशब्दस्तु तत् निवारकः** गु का

अर्थ है अंधकार और रू का अर्थ है उसे रोकना, नष्ट करना। जो अंधकार को दूर करता है, वह गुरु होता है। धार्मिक परम्परा में गुरु आध्यात्मिक साधना करने वाले साधकों का नेतृत्व भी करते हैं और आम जनता को भी बोध प्रदान करते हैं। आचार्य सोमप्रभसूरि ने 'सूक्तिमुक्तावली' में यह बताया है कि गुरु कैसा होता है?

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं,
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो,
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित्।।

गुरु वह होता है, जो मिथ्याज्ञान/अज्ञान को नष्ट कर देता है और शास्त्रीय ज्ञान/यथार्थ ज्ञान को प्रदान करता है। वह सुगति और कुगति के मार्ग यानी पुण्य-पाप के बारे में जानकारी प्रदान करता है। आदमी के लिए करणीय क्या और अकरणीय क्या? इसकी भेदरेखा को दिखाता है। संसार-समुद्र से पार पहुंचाने के लिए गुरु एक जहाज है, पोत है। गुरु के सिवाय दूसरा कोई नहीं है।

साधर्मिक का मतलब है—एक समूह में एक साथ समान धर्म को मानने और समान धर्म की साधना करने वाला व्यक्ति। शुश्रूषा शब्द के दो अर्थ हैं—सेवा और सुनने की इच्छा। कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित 'अभिधानचिन्तामणि' में बुद्धि के आठ गुण बताते हुए कहा गया है—

शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः।।

शुश्रूषा—सुनने की इच्छा, श्रवण—सुनना, ग्रहण—ग्रहण करना/लेना, धारण—धारण किए हुए को नहीं भूलना, ऊहा—युक्तिसंगत तर्क, अपोह—दूषित पक्ष का खण्डन करना, अर्थविज्ञान—अर्थ को यथावत जानना, तत्त्वज्ञान—वास्तविक तत्त्व का ज्ञान। इस प्रकार शुश्रूषा का एक अर्थ है—आराधना करना, सेवा करना, विनय करना और दूसरा अर्थ है—सुनने की इच्छा होना। गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा, सेवा, भक्ति करने से आदमी के भीतर विनय की चेतना परिपुष्ट बनती है। जिसकी चेतना विनय-युक्त हो गई, अहंकार-मुक्त हो गई, उसकी चेतना पवित्र बन जाती है। जब चेतना पवित्र बन जाती है, फिर अगली

गति अपने आप अच्छी हो जाती है। हमारे जीवन में अहंकार एक दुर्गुण होता है, उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

शिष्य गुरु के पास पढ़ता था। एक दिन गुरु ने कहा—वत्स! मैं तुम्हें ज्ञान दे रहा हूं, तुम मुझे दक्षिणा में क्या दोगे?

शिष्य—गुरुदेव! मैं आपको रुपयों का बंडल दूंगा।

गुरु—वत्स! मुझे रुपये नहीं चाहिए। मैं तो वह वस्तु लूंगा जो बेकार हो।

शिष्य ने सोचा—गुरुदेव को मिट्टी दे दूं, यह बिलकुल बेकार चीज है। वह मिट्टी लेकर गुरु के उपपात में पहुंचा और निवेदन किया कि मैं दक्षिणा में देने के लिए मिट्टी लाया हूं।

गुरु—वत्स! मिट्टी तो बहुत काम की चीज है। कई बार स्थान अच्छा नहीं होता है, ऊबड़-खाबड़ होता है, तब स्थान को ठीक करने के लिए मिट्टी बिछाई जाती है, जिससे वह स्थान उपयोगी बन जाता है, जनता के बैठने आदि के लिए काम आ जाता है। गर्मी में ठण्डा पानी रखने के लिए मिट्टी की मटकी बनाई जाती है। मिट्टी से ईंट भी बन सकती है। इस प्रकार मिट्टी उपयोगी है, बेकार नहीं है। फिर शिष्य ने गुरु को राख उपहृत की।

गुरु—वत्स! राख का भी उपयोग है। और तो क्या, यह तो जैन मुनियों के केशलुंचन में भी काम आती है। यह बेकार नहीं है। आखिर सोचते-सोचते शिष्य के मस्तिष्क में एक विचार आया और उसने गुरु को निवेदन किया—गुरुदेव! मेरे भीतर थोड़ा ज्ञान का अहंकार है। वह बेकार है। उसे मैं आपको देना चाहता हूं।

गुरु ने कहा—वत्स! मैं तुम्हारा अहंकार ही लेना चाहता था। तुम ठीक जगह पहुंच गए। जब तुम अहंकार मुक्त बन जाओगे तो तुम्हारा ज्ञान शुद्ध बन जाएगा। भर्तृहरि ने सुन्दर कहा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धो समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चित् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।।

जब मेरे पास अल्पज्ञान था, तब मैं हाथी की तरह मदोन्मत्त बन गया। मेरे में अहंकार आ गया। मैंने सोचा, मेरे पास कितना ज्ञान है। मैंने यह मान

लिया कि मैं दुनिया का सर्वज्ञ बन गया हूं। बाद में मुझे जब ज्ञानियों के सम्पर्क में आने का मौका मिला, उनके ज्ञान को देखा, तब मुझे पता चला कि मेरे भीतर तो अज्ञान भरा पड़ा है। तब मेरा अहंकार उसी प्रकार दूर हो गया जैसे मलेरिया की टेबलेट लेने से मलेरिया का ज्वर उतर जाता है।

आदमी ज्ञान का भी अहंकार न करे। गुरु की शुश्रूषा करे किन्तु गुरु के सामने अहंकार न करे। हालांकि अहंकार तो कहीं नहीं करना चाहिए परन्तु गुरु के सामने तो विशेष रूप से विनय का भाव होना चाहिए।

गुरु महान होते हैं। धार्मिक साहित्य में गुरु के प्रति विनय और सेवा के प्रसंग कई मिलते हैं। एकलव्य का गुरु के प्रति कितना विनय और समर्पण का भाव था। हालांकि साक्षात् गुरु द्रोणाचार्य से उसने ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। मात्र द्रोणाचार्य के प्रतीक को अपना गुरु मानकर धनुर्विद्या में नैपुण्य प्राप्त कर लिया। जब दक्षिणा देने का प्रसंग आया तो गुरु की इच्छानुसार अपना अंगुष्ठ भी दे दिया।

तेरापंथ धर्मसंघ के प्रवर्तक महामना आचार्य भिक्षु के अनेक शिष्य थे। उनमें एक शिष्य का नाम था मुनि खेतसी। वे बड़े सेवाभावी और विनीत मुनि थे। एक बार आचार्य भिक्षु को रात्रि में कोई तकलीफ हो गई। उन्हें कई बार उठना पड़ा और मुनि खेतसी को भी जगाना पड़ा। अगले दिन प्रसंगवश मुनि खेतसीजी ने निवेदन किया—स्वामीनाथ! रात्रि में आपको काफी कठिनाई हुई, कई बार जागना पड़ा। आचार्य भिक्षु ने कहा—खेतसी! आज की रात भी पता नहीं कैसी निकलेगी? किन्तु आज रात्रि में तुम्हें जगाने का त्याग है। सेवानिष्ठ और गुरुभक्त मुनि खेतसीजी बोले—स्वामीनाथ! आपने यह क्या किया? खैर....आपको मुझे जगाने का त्याग है तो आज रात्रि में मुझे सोने का ही त्याग है। मैं जागृत ही रहूंगा तो आपको जगाना ही नहीं पड़ेगा।

ये ही मुनि खेतसी थे जिनके लिए आचार्य भिक्षु ने संतों से कहा—संतो! एक बात का ध्यान रखना, यदि मेरे नाम से मुनि खेतसी को कोई बात बतानी हो तो पहले यह देख लिया करो कि उसके हाथ में कोई पात्र तो नहीं है ना। क्योंकि ज्योंही तुम मेरा नाम लोगे, वह इतना भक्त आदमी है कि तत्काल उसके हाथ जुड़ जायेंगे और यदि पात्र हाथ में होगा तो वह नीचे गिर जाएगा, टूट जाएगा। मुनि खेतसी की विनयनिष्ठा बेजोड़ थी। गुरु के प्रति विनय और

सेवा की भावना आदमी को ऊंचा उठाने वाली होती है।

सेवा का अपना महत्त्व है। चाहे साधु समाज हो या गृहस्थ समाज, जहां सेवा होती है वहां संबंध अच्छे रहते हैं। परिवार में अनेक सदस्य होते हैं। सन्तान का यह कर्त्तव्य होता है कि अन्तर्मन से मां-बाप आदि की सेवा करे। उनका ध्यान रखे। जिस परिवार में वृद्धों की संभाल न हो, सेवा न हो, उस परिवार के रिश्ते ज्यादा अच्छे नहीं होते। जिस मां ने संतान को जन्म दिया, उसका लालन-पालन किया, उसकी सेवा की, स्वयं कष्ट झेलकर भी उसे सुख में रखने का प्रयास किया, ऐसी मां की कोई तर्जना करता है, उसे कष्ट देता है तो वह मातृऋण से उऋण कैसे हो पाएगा?

आजकल जगह-जगह वृद्धाश्रम बन रहे हैं। क्योंकि पुत्र आदि वृद्ध मां-बाप के पास रह नहीं सकते। उनकी अपनी समस्या है। वे शहरों आदि में व्यवसाय करते हैं। माता-पिता गांव को छोड़कर उनके साथ जाना नहीं चाहते। तब एक विकल्प सोचा गया कि ऐसे वृद्ध आश्रम हों, जहां व्यक्ति आराम से रह सके। उनकी चिकित्सा आदि की भी व्यवस्था हो सके। वे अपने भजन-भाव भी कर सकें। उस सेवा का भी मूल्य है।

जिस समाज में कुछ लोग तो बड़े एशो-आराम की जिन्दगी जीते हैं। जिनके पास भोजन, आवास अदि की बहुत सुन्दर व्यवस्थाएं हैं और कुछ लोगों के पास न भोजन की व्यवस्था है, न आवास की व्यवस्था है, न शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था है। वह समाज पूर्णतः स्वस्थ समाज नहीं हो सकता। लौकिक धर्म के अंतर्गत इस सेवा का भी महत्त्व बताया गया है कि तुम तो भरपेट खाते हो और तुम्हारे आसपास रहने वाले यदि भूखे-प्यासे हैं तो उनकी ओर भी ध्यान दो। समाज में भी सेवा का अपना मूल्य होता है। संस्कृत साहित्य में तो सेवा के लिए यहां तक कहा है—**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः** यह सेवा धर्म परम गहन है और योगियों के लिए भी अगम्य है। अन्तर्मन से और निःस्वार्थ भाव से सेवा करना बहुत कठिन काम है।

राजनीति में जो लोग आते हैं, उनका मूल काम तो सेवा करना ही है। जनता उसे प्रतिनिधि के रूप में इसलिए चुनती है कि वह जनता की सेवा करेगा। राजनीति में आने के बाद यदि कोई व्यक्ति जनता की सेवा न करे तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। हालांकि मैं तो कई बार सोचता हूं कि

सरकार कितनी सेवा करती है। जनता को कितनी व्यवस्था दे रही है। गरीबों पर ध्यान दे रही है। गरीब बच्चों के लिए शिक्षा के साथ भोजन भी निःशुल्क दे रही है, चिकित्सा पर भी ध्यान दे रही है। सरकार यह प्रयास करती है कि लोगों का उत्थान हो, जनता का भला हो। इस प्रकार राजनीति के लोग अपने ढ़ंग से सेवा करते हैं। यदि कोई व्यक्ति राज्यसत्ता में तो आ जाए किन्तु जनता की सेवा न करे तो ऐसे व्यक्ति के लिए संस्कृत साहित्य में कहा गया है–

राज्याधिकारं संप्राप्य, यः प्रजां नैव रञ्जति।
अजागलस्तनस्येव, तस्य जन्मनिरर्थकम्।।

जो व्यक्ति राज्याधिकार को प्राप्तकर जनता की सेवा न करे, जनता को राजी न कर सके तो उसका जन्म उसी प्रकार निरर्थक है जैसे बकरी के गले का स्तन। मैं राजनीति को खराब नहीं मानता। राजनीति तो समाज और देश के लिए आवश्यक है। उसके बिना अच्छी व्यवस्था कैसे होगी? अपेक्षा यह है कि राजनीति में आने वाले लोग अणुव्रत के अनुरूप जीवन जीएं, ईमानदारी और नैतिक मूल्यों का जीवन जीएं। राजनेता के मन में जनता के प्रति प्रेम हो, सेवा की भावना हो और योग्यता हो तो जनता का भला हो सकता है। जनता जिस आशा से वोट देकर उसे आगे लाती है, उसकी आशा के अनुरूप भी कुछ काम किए जाएं।

सेवा का सर्वत्र महत्त्व है। अगर साधु समुदाय में सेवा न हो तो शांति नहीं रह सकती। गृहस्थ समाज में भी सेवा के अभाव में अशांति रहती है। साधुओं को भी सेवा की अपेक्षा रहती है और गृहस्थों को भी सेवा की अपेक्षा रहती है। जहां सेवा में कमी रहती है वहां कठिनाई पैदा हो जाती है। संभवतः पंजाब प्रान्त की बात है। एक बार पंजाब में कोई जैन आचार्य पधारे। उनके अनेक शिष्य थे। एक शिष्य भयंकर बीमार हो गया। साधुओं ने भी सेवा में कुछ कमी कर दी। उस बीमार साधु ने सोचा–जब मैं गृहस्थ था तब तो ये साधु लोग मेरे साथ कितना प्रेमभाव रखते थे, कितनी तत्त्वचर्चा आदि करते थे। अब मैं साधु बन गया, बीमार हो गया तो मुझे कोई पूछता ही नहीं है, न कोई अच्छी सेवा करता है। मैं कहां आ गया? मैं ठीक हो जाऊं, साधु संस्था को छोड़ दूंगा और पुनः अपने घर चला जाऊंगा। शिष्य का मन कुछ कमजोर हो गया। यह बात गुरु के पास पहुंची। गुरु ने सोचा–मेरे समुदाय का सदस्य सेवा के अभाव में घर जाए, यह तो मेरे लिए अशोभनीय बात होगी। गुरु स्वयं

उस बीमार साधु के पास गए। उसके स्वास्थ्य के बारे में पूछा। मनःस्थिति और चित्तसमाधि के बारे में पूछने पर शिष्य ने अपने मन की बात बता दी। गुरुदेव! ये साधु लोग न तो मेरे पास बैठते हैं, न बात करते हैं, न मेरे साथ आहार करते हैं। मुझे प्रायः अकेला सा छोड़ दिया है। मेरा मन अस्थिर हो गया है। मैं घर जाने की सोच रहा हूं। गुरु ने कहा—वत्स! आज मैं तुम्हारे साथ आहार करूंगा। गुरु की इतनी कृपा से शिष्य का मन बदल गया। उसने सोचा—जब स्वयं गुरु की मेरे ऊपर इतनी कृपादृष्टि है फिर मुझे क्या चिन्ता है। मन मजबूत बन गया। गुरु से निवेदन किया—गुरुदेव! मैं तो आपके चरणों का दास बनकर रहूंगा। सेवा का अभाव मन को कमजोर बनाने वाला और मन को विचलित करने वाला हो सकता है और सेवा की सुन्दर व्यवस्था मन को अच्छा रखने में और विकास में सहायक बनती है।

शास्त्रकार ने सुन्दर कहा कि गुरु और साधर्मिक की सेवा शुश्रूषा करने से विनय भाव पुष्ट होता है। उसको देख-देखकर दूसरों के मन में भी विनय-भावना का संचार हो सकता है और आदमी को सुगति प्राप्त हो सकती है। सेवा की भावना आदमी को ऊंचा उठाती है। यह पवित्र सेवा भावना एक कल्याणकारक तत्त्व है।

५

आलोचना से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**आलोयणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! आलोचना करने से जीव को क्या मिलता है? उत्तर दिया गया—**आलोयणाए णं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसार-वद्धणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।** आलोचना से वह अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्ष-मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले माया, निदान तथा मिथ्यादर्शन शल्य को निकाल फेंकता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। ऋजु भाव को प्राप्त हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्रीवेद और नपुंसक वेद कर्म का बंध नहीं करता और यदि वे पहले बंधे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।

शास्त्रकार ने एक महत्त्वपूर्ण बात बताई कि आलोचना करने से ऋजुता का भाव पुष्ट होता है। ऋजुता के बिना अपनी गलतियों को स्वीकार करना भी मुश्किल होता है। कई बार आदमी पाप को छोड़ना भी नहीं चाहता और पापी कहलाना भी नहीं चाहता यानी पाप भी करना और पापी भी न कहलाना, यह भावना आदमी के मन में रहती है। जो व्यक्ति आलोचना के मर्म को समझ लेता है और अपनी मानसिकता का निर्माण कर लेता है, वह व्यक्ति अपनी कमियों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है फिर चाहे उसकी प्रतिष्ठा में कमी आ जाए। एक साधु के द्वारा कोई गलती हो जाने के बाद जब गुरु

उससे पूछते हैं कि क्या अमुक गलती तुमने की है? तब साधु उसे अस्वीकार करता है तो समझना चाहिए कि उसमें आलोचना का सामर्थ्य नहीं है। वह अपने चातुर्य के द्वारा गलती को ढ़कने का प्रयास करता है। जहां चातुर्य है, होशियारी है, दक्षता है और जो आदमी बात बनाने में माहिर है। बात को इस प्रकार सजाने का प्रयास करता है ताकि गलती ढ़क जाए, वह बिलकुल सामने न आए। जहां इस प्रकार की चतुराई होती है, होशियारी होती है, वहां शुद्धि नहीं होती, मलिनता बनी रह जाती है।

एक बार मैं गुरुदेव तुलसी के सान्निध्य में आसीन था। गुरुदेव ने एक साधु से उसकी गलती के बारे में पूछा। उस मुनि ने बड़ी चतुराई के साथ बात को प्रस्तुत किया। गुरुदेव ने बड़ी मार्मिक बात कही—वत्स! गुरु के सामने होशियारी नहीं छांटनी चाहिए। गुरु के सामने तो भोले बालक की तरह बात करनी चाहिए। इस होशियारी/चतुराई से तुम्हारी गलती का शुद्धिकरण नहीं होगा। 'रत्नाकर पञ्चविंशिका' में रत्नाकर सूरि ने सुन्दर कहा है—

किं बाललीला-कलितो न बालः,
पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः?
तथा यथार्थं कथयामि नाथ!
निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे।।

एक बालक अपने माता-पिता के सामने बिना किसी विकल्प के, बिना कोई छिपाव के सब कुछ कह देता है। जैसा मन में होता है, वैसी बात प्रस्तुत कर देता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी कमियों को गुरु के सामने यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर देता है, वह अपनी शुद्धि कर सकता है।

शास्त्रकार ने कहा कि आलोचना करने से शल्यों का उद्धरण हो जाता है। जैन वाङ्मय में तीन शल्य माने गए हैं—माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य।

माया शल्य यानी छल-कपट करने की वृत्ति, बात को ढ़कने की वृत्ति। यह माया अथवा छलना एक प्रकार का शल्य है। यह आदमी की चेतना को कष्ट देने वाला होता है। निदान यानी आकांक्षा करना। मेरी तपस्या का फल हो तो मुझे अमुक चीज मिल जाए, भौतिक पदार्थ मिल जाए। यह आकांक्षा रखना निदान है और एक प्रकार का शल्य है। मिथ्यादर्शन शल्य यानी मिथ्या

दृष्टिकोण। जो जैसा है उसे वैसा न मानना, गलत रूप में मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। इन शल्यों को निकालने के लिए आलोचना सहायक बनती है। यदि भीतर में शल्य रहता है तो तकलीफ होती है। जिस प्रकार चलते समय व्यक्ति के पैर में कोई कांटा चुभ जाए, वह थोड़ा भीतर चला जाए और न निकले तो पैर में तकलीफ हो जाती है और उस कांटे को अच्छी तरह निकाल दिया जाए तो आराम भी मिल जाता है। उसी प्रकार ये माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्य भी कष्टदायी और आत्मा को मलिन बनाने वाले होते हैं। इन शल्यों के निकलने से शांति भी प्राप्त हो सकती है।

घोड़ा तड़फ रहा था। ऊपरी तौर पर ध्यान देने पर उसकी बेचैनी का कोई कारण समझ में नहीं आया। फिर पशु चिकित्सक को बुलाया गया। उसने गहराई से ध्यान दिया और घोड़े के मालिक से पूछा—पिछले दिनों यह घोड़ा कहां-कहां गया था? घोड़े के मालिक ने बताया कि कुछ दिनों पहले इसे युद्ध के काम में भी लिया गया था। चिकित्सक तत्काल समझ गया कि अवश्य ही कोई शल्य इसके भीतर है। उसे ध्यान से देखने पर पता चला कि कोई बाण फेंका गया था। उस बाण का कोई अंश घोड़े के भीतर रह गया। वह अंश ही उसे बेचैन बना रहा है। चिकित्सक ने तत्काल बाण के उस अंश को शरीर से बाहर निकाल दिया। उस अंश के निकलते ही घोड़े की बेचैनी समाप्त हो गई।

आदमी के मन में भी कोई शल्य होता है, कोई बात ऐसी बैठ जाती है कि मन बेचैन हो जाता है। आलोचना करने से सफाई हो जाती है। धार्मिक साहित्य में कहा गया कि गलती किसी से भी हो सकती है। एक गृहस्थ से भी हो सकती है और एक साधु से भी हो सकती है। किन्तु भूल को छिपाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। भूल को छिपाना भी पाप है। जो बात जैसी हो, उसे साफ-साफ बता देनी चाहिए। यहां यदि भूल को छिपा भी लेंगे किन्तु आगे तो राई-पाई का हिसाब होगा। किए हुए कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। आदमी इस बात पर ध्यान दे कि दूसरा कोई देखे या न देखे, मेरी आत्मा तो देखती है, परमात्मा/भगवान तो देखता है। परमात्मा से छिपकर मैं कहां जाऊंगा?

आदमी दूसरे लोगों से अपनी गलती को छिपा सकता है। किन्तु

परमात्मा से कुछ भी छिपा नहीं रह सकता। इसलिए छिपकर भी कोई गलत काम नहीं करना चाहिए। आदमी कोई काम छिपकर करता है इसका मतलब है गलत काम किया जा रहा है। सही काम हो तो छिपाए क्यों? जहां छिपाव है वहां गलत काम होने की संभावना रहती है। 'दसवेआलियं' सूत्र में कहा गया—

अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए।।

कोई अनाचार हो जाए, गलत काम हो जाए तो उसे छिपाना नहीं चाहिए। कोई पूछे तो उसका अपलाप नहीं करना चाहिए, खण्डन नहीं करना चाहिए, पवित्र भाव से अपनी गलती को स्वीकार कर लेना चाहिए। गलती को स्वीकार कर लेने से शुद्धि हो जाती है। यदि पाप की आलोचना नहीं की जाती है तो अगली गति खराब हो सकती है इसलिए आदमी जागरूकता रखे कि मेरे द्वारा कोई पाप न हो जाए। अगर दुर्भाग्य से हो जाए तो उसे साफ करने का प्रयास करे। जिस प्रकार कपड़े पर कोई धब्बा लग जाता है, गन्दगी लग जाती है तो साबुन आदि से उसे साफ किया जाता है और कपड़े की मलिनता को दूर कर दिया जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी एक प्रकार का कपड़ा है। उस पर कोई पाप का धब्बा लग जाए तो उसको आलोचना रूपी साबुन-पानी से साफ कर लेना चाहिए। जिस प्रकार कपड़े के फट जाने पर सुई धागे के द्वारा उसकी सिलाई करके पुनः संधानयुक्त बना दिया जाता है। उसी प्रकार आत्मा रूपी कपड़े के फट जाने पर आलोचना रूपी सुई धागे से उसे सांध लेना चाहिए। जिससे कपड़ा अच्छी तरह काम आ सके।

कोई व्यक्ति अपने गुरु के सामने आलोचना करे तो गुरु का कर्त्तव्य है कि उसकी बात को फैलाए नहीं, गोपनीय रखे। परम पूज्य गुरुदेव आचार्य भिक्षु तेरापंथ के प्रथम गुरु हुए हैं। उनके पास एक इतर सम्प्रदाय का साधु आया। उसने स्वामीजी को एकान्त में ले जाकर कुछ समय तक वार्तालाप किया और वापिस चला गया। आचार्य भिक्षु के शिष्य मुनिश्री हेमराजजी स्वामी ने पूछा—गुरुदेव! वह साधु आपके पास क्यों आया था? स्वामीजी ने कहा—किसी दोष की आलोयणा करने आया था। मुनिश्री हेमराजजी ने पुनः प्रश्न किया—गुरुदेव! आपसे किस बात की आलोयणा की, उसने क्या पाप किया था? स्वामीजी ने तत्काल कहा—यह बताना नहीं कल्पता है। गुरु की

अपनी महानता होती है। गुरु के पास कितने लोग अपने मन की बात बताते हैं और अपना शुद्धिकरण करते हैं। उनकी बातों को गोपनीय रखना गुरु का काम होता है। आलोचना एक ऐसा उपक्रम है जिसके द्वारा आदमी अपनी शुद्धि कर सकता है और अपनी चेतना को निर्मलता की ओर आगे बढ़ा सकता है।

६

निन्दा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**निंदणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! निन्दा से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ।** निन्दा से पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न होता है। पश्चात्ताप होने से आदमी विरक्त बनता है। विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणामधारा—करण गुण श्रेणी (क्षपक श्रेणी) को प्राप्त करता है। करणगुणश्रेणी को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय कर्म को क्षीण कर देता है।

सामान्यतया हम दूसरों के बारे में आक्षेप-प्रक्षेप करने को निन्दा कहते हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में निन्दा का थोड़ा अलग अर्थ किया गया है। यहां बताया गया है कि अपनी भूलों के प्रति मन में अनादर का भाव लाना, अपनी भूलों के प्रति असम्मान का भाव पैदा हो जाना निन्दा है। जब आदमी के मन में अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव होगा, तब बहुत संभव है अनुताप का भाव, पश्चात्ताप का भाव पैदा होगा कि मैंने ऐसी गलती क्यों की? कई लोग आवेशशील होते हैं। वे गुस्से में आकर कुछ भी बोल देते हैं। एक बार तो विस्फोट-सा कर देते हैं। कुछ समय बाद उनका चित्त शांत होता है, पारा नीचे उतरता है। तब उनके मन में आता है अरे! मैंने ऐसा क्यों कर दिया? मैंने बिना मतलब क्यों डांट दिया? मैंने बड़ी भूल कर दी। इस प्रकार अनुताप का भाव

पैदा होने से साधक के मन में, जो भूल उसने की है, उससे विरक्त होने की भावना पैदा होती है और सोचता है कि मैंने किया सो तो किया, आगे मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए। भविष्य में उसका पुनरावर्तन नहीं करना चाहिए, जागरूक रहना चाहिए। शास्त्रकार ने कहा कि इस प्रकार का भाव पैदा हो जाने से साधना में वृद्धि होती है और करणगुणश्रेणी पर आरोहण हो जाता है। करणगुणश्रेणी का सीधा सा अर्थ है—क्षपकश्रेणी।

जैन वाङ्मय में चौदह गुणस्थानों का वर्णन प्राप्त होता है। एक साधक आत्मसाधना करता है। साधना करते-करते आगे बढ़ता है। सातवें गुणस्थान तक एक ही रास्ता रहता है। आठवें गुणस्थान से दो रास्ते निकलते हैं—एक उपशमश्रेणी का मार्ग और दूसरा क्षपकश्रेणी का मार्ग। कोई साधक उपशम श्रेणी के मार्ग पर आगे बढ़ता है, जो आगे चलते-चलते बन्द दिखाई देता है। फिर आगे बढ़ने का कोई अवकाश नहीं रहता। परिणाम स्वरूप उस पथ पर आगे बढ़ने वाले को वापिस आना ही पड़ता है। यानी अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ने के लिए उपशमश्रेणी का मार्ग एक बंद गली है, जहां से अवश्य ही वापस लौटना होता है। उपशमश्रेणी वाला साधक ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सकता है। फिर वापिस लौटता है, नीचे गिरता है। गिरते-गिरते कोई बीच में ही ठहर जाता है और कोई पहले गुणस्थान तक चला जाता है।

मोक्ष तक पहुंचाने वाला क्षपकश्रेणी का मार्ग होता है। उस मार्ग से जो गमन करता है, वह मोहनीय कर्म का उपशम नहीं करता, क्षय करता है, समाप्त करता चला जाता है। उपशम का मतलब है—भीतर अंगारे हैं और ऊपर राख आ गई यानी ऊपर से ठंडक है पर भीतर में ऊष्मा है। क्षपकश्रेणी के पथ पर आगे बढ़ने वाला व्यक्ति अंगारे को ढ़कता नहीं है, बुझाता हुआ चला जाता है। वह कर्म शत्रुओं का नाश करते हुए आगे बढ़ता है। ज्योंही वह दसवें गुणस्थान में आता है, ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श किए बिना वह सीधा बारहवें गुणस्थान में छलांग लगाकर मोहनीय कर्म का नाश कर देता है। मोहनीय कर्म के नाश होने का मतलब है बाधाओं का समाप्त होना। साधना में एक ही बाधा है। वह है मोहनीय कर्म। बीच-बीच में इसका इतना प्रभाव हो जाता है कि कई साधक साधना पथ से विचलित हो जाते हैं। जो इसको परास्त कर देता है और बारहवें गुणस्थान में प्रवेश कर लेता है, वह विजय को प्राप्त कर लेता है, आजादी को प्राप्त कर लेता है यानी फिर उसका अपना साम्राज्य

हो जाता है। कोई दूसरा हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जिसने बारहवां गुणस्थान पा लिया, वह अवश्य ही तेहरवें और चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करेगा। वह आत्मा शरीर को त्याग कर निरंजन निराकार रूप में मोक्ष में जाकर विराजमान हो जाएगी। जहां न शरीर है, न वाणी है और न मन है। केवल ज्योतिर्मय चेतना की स्थिति रह जाती है।

आदमी के मन में भूल से विरक्ति होनी चाहिए। यह प्रायः असंभव बात है कि भूल हो ही नहीं। भूल करना तो मानो आदमी का स्वभाव-सा हो गया है। जब कभी भूल हो जाती है। पर आदमी इतना संकल्प कर ले कि मैं भूल की पुनरावृत्ति नहीं करूंगा। बस इतनी-सी सजगता आ जाए तो परिष्कार हो सकता है और आदमी आगे बढ़ सकता है। आदमी में इतना साहस होना चाहिए कि वह अपनी भूल को स्वीकार कर सके। कदाचित् दूसरों के सामने अपनी भूल न भी रख सके तो अपने मन में तो स्वीकार कर ले कि मैंने भूल की है। ऐसा मुझे नहीं करना चाहिए था, परन्तु प्रमादवश मैंने ऐसा कर दिया। अब मैं जागरूक बनूं और अपनी भूल का परिमार्जन करूं। आदमी यदि अपनी कमजोरी को स्वीकार कर लेता है तो उसका परिष्कार भी हो सकता है। यदि कमजोरी को स्वीकार ही नहीं किया जाता है तो परिष्कार कैसे घटित होगा? अपनी दुर्बलता को देखने वाला व्यक्ति अपनी सबलता की ओर आगे बढ़ सकता है।

आदमी अपने द्वारा की गई भूल का अहसास करे, भूल के प्रति असम्मान का भाव पैदा करे, पश्चात्ताप करे और पुनः भूल की पुनरावृत्ति न करने का संकल्प करे तो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है और अपनी चेतना को निर्मल बना सकता है।

७

गर्हा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**गरहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! गर्हा (दूसरों के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करने) से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ।** गर्हा से जीव अनादर को प्राप्त होता है। अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है। वैसा अनगार आत्मा के अनन्त विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को क्षीण करता है।

आदमी के जीवन में गलतियां हो सकती हैं। गलती करना तो मनुष्य का स्वभाव-सा बन गया है। परन्तु व्यक्ति की समझदारी यह है कि वह गलती का परिशोधन करे, परिष्कार करे और भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसा प्रयास करे। एक साधु के द्वारा भी कभी-कभी प्रमाद, गलती या भूल हो सकती है। किन्तु गलती हो जाने के बाद उसका सम्यक् परिमार्जन करने का प्रयास किया जाना चाहिए। जिसके द्वारा गलती हुई है, उसे सजग किया जाना चाहिए, प्रायश्चित्त देकर उसकी शुद्धि की जाए और भविष्य में वह गलती न करे, ऐसा प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। संभव है प्रशिक्षण से अनेक लोग अपने प्रमाद से, गलती से दूर हो जाएंगे और उनका जीवन बहुत अच्छा बन

जाएगा। आगमकार ने गलती-परिमार्जन के अनेक उपाय बताए हैं। एक उपाय यह बताया गया है कि गुरु के सामने एक बालक की तरह अपनी भूल को स्वीकार कर लो। उस भूल का परिष्कार हो जाएगा। दूसरा उपाय यह बताया गया कि आत्मनिन्दा करो, अपने मन में अपनी गलती के प्रति असम्मान का भाव लाओ, अनादर का भाव लाओ, पश्चात्ताप करो, गलती का परिष्कार हो जाएगा। तीसरा उपाय बताया गया है कि अपनी गलती को दूसरों के सामने प्रस्तुत कर दो, गलती का परिमार्जन हो जाएगा।

गर्हा एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें व्यक्ति दूसरों की निन्दा नहीं करता, दूसरों की बुराई नहीं करता बल्कि अपनी कमजोरियों को जनता के सामने प्रस्तुत कर देता है। ऐसे लोग तो फिर भी मिलते हैं जो एकान्त में अपनी भूल को स्वीकार करते हैं और उसके परिष्कार का उपाय पूछते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलते हैं अथवा विरले होते हैं जो अपनी गलती को जनता के सामने प्रस्तुत करने में संकोच नहीं करते। उन्हें इस बात का भय नहीं होता कि मेरी गलती यदि लोगों को ज्ञात हो जाएगी तो लोग मेरे बारे में क्या सोचेंगे? मेरा सम्मान कम हो जाएगा, प्रतिष्ठा कम हो जाएगी। इस बात की परवाह किए बिना वे अपनी भूल को दूसरों के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। मैं ऐसे व्यक्तियों के सामने नत हूं जो इतनी ऋजुता और साहस के साथ अपनी गलती को स्वीकार कर लेते हैं।

मैं यदा कदा ग्रामीण लोगों के बीच बैठता हूं तब उनसे पूछता हूं कि आप लोगों में से नशा करने वाले लोग कौन-कौन हैं? कुछ लोग तो अपनी कमजोरी को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो सबके सामने अपनी कमजोरी को प्रस्तुत नहीं कर सकते। दूसरों के सामने अपनी गलती को स्वीकार कर लेना बहुत बड़ी बात है।

गर्हा करना बहुत बड़ा साहस का काम है और आत्मशुद्धि का सुन्दर उपाय है। गर्हा करने से अपुरुषकार होता है यानी आदमी जब अपनी भूलों को जनता के सामने प्रस्तुत करता है तब उसकी जो प्रतिष्ठा है, सम्मान है, उस प्रतिष्ठा और सम्मान में कमी आने की स्थिति बन सकती है। मेरा मन्तव्य तो यह भी है कि जो आदमी इस प्रकार अपनी भूल को परिषद् के बीच स्वीकार कर लेता है, एक बार तो भले ही उसकी प्रतिष्ठा में कमी आ जाए परन्तु जनता

के मन में उसके प्रति श्रद्धा का भाव बढ़ जाता है। लोग सोचते हैं—कितना महान आदमी है, इसने कितना साहस किया है। अपनी गुप्त भूल को भी सबके सामने प्रस्तुत कर आत्म परिमार्जन का प्रयास किया है। कई बार गुरु के द्वारा पूछने पर भी भूल को स्वीकार करना कठिन होता है। उससे भी कठिन काम है कि जो भूल गुरु अथवा किसी को भी ज्ञात नहीं है, उसे गुरु के सामने स्वयं चलाकर निवेदित करना और उससे भी महान कार्य है आम जनता के सामने अपनी भूल को स्वीकार कर लेना। जो व्यक्ति भूल को स्वीकार कर लेता है, वह अप्रशस्त अथवा गलत कार्यों से विरत हो जाता है और प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। फिर साधना करते-करते आत्मगुणों का घात करने वाले घाती कर्मों को क्षीण कर देता है और वीतरागता को प्राप्त कर लेता है।

आदमी को आत्म-अन्वेषण करना चाहिए कि मैंने अपने जीवन में कोई भूल की है क्या? अगर कोई भूल हुई है तो उसका मुझे परिमार्जन करने का प्रयास करना चाहिए। इस जीवन का कोई भरोसा नहीं है, कब क्या हो जाए? उन भूलों का पाप मेरे साथ न चला जाए। यह जागरूकता जिस साधक में होती है, वह व्यक्ति अपना परिमार्जन कर सकता है। ऐसे प्रसंगों में महात्मा गांधी को याद करें। उन्होंने अपने जीवन प्रसंगों में किस प्रकार गर्हा की है, भूल को स्वीकार किया है। यह अपने आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है और पाठकों के लिए भी एक अभिप्रेरणा है कि कैसे आदमी में इतना साहस जाग सकता है, जिससे वह अपनी भूल को जनता के सामने स्वीकार कर लेता है। ऐसा कार्य कोई महान मनोबली व्यक्ति ही कर सकता है। कमजोर आदमी की तो कई बार यह स्थिति बन जाती है कि वह गलती तो कर लेता है किन्तु जब गुरु द्वारा उसे भूल के बारे में पूछा जाता है तो वह अपनी गलती को स्वीकार नहीं करता और असत्य का प्रयोग कर लेता है, माया का प्रयोग कर लेता है और येन केन प्रकारेण गलती को ढ़कने का प्रयास करता है। इस प्रकार का आचरण करने वाला एक तरह से पतित व्यक्ति होता है। इससे थोड़ा ऊंचा आदमी वह होता है जो गुरु के पूछने पर कुछ अंशों में स्वीकार करता है और कुछ अंशों में अस्वीकार करता है। इससे ऊपर की भूमिका वाला व्यक्ति गुरु आदि के द्वारा पूछने पर अपनी गलती को यथार्थ रूप में स्वीकार कर लेता है। इससे भी बड़ा आदमी वह होता है जो गुरु के पूछे बिना स्वयं अपनी भूल को गुरु आदि के सामने प्रस्तुत करता है और आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार करता है।

उस आदमी का तो कहना ही क्या है जो गुरु तो क्या, आम जनता के सामने अपनी गलती को स्वीकार करता है।

हमारे धर्मसंघ में भी ऐसे अनेक साधु-साध्वियां हुए हैं जिन्होंने अपनी कमजोरी को, अपने प्रमाद को जनता के बीच स्वीकार किया है। जनता में बात फैल जाए, फिर स्वीकार करे, यह भी अच्छी बात है किन्तु जो बात लोगों में फैली नहीं, किसी को पता नहीं, उसको चलाकर स्वीकार कर लेना कितनी बड़ी आत्मशुद्धि की साधना है।

मुनिश्री सोहनलालजी स्वामी (चूरू) तेरापंथ धर्मसंघ के आस्थाशील मुनि थे। संघ और संघपति के प्रति उनका समर्पण भाव विलक्षण था। विक्रम संवत् १९८६ लाडनूं चातुर्मास में वे पूज्य कालूगणी के साथ थे। वहां उनके जीवन में आकस्मिक रूप से ऐसी दुर्घटना घटित हुई कि उन्हें संघ के संरक्षण से वंचित होना पड़ा। भावावेश में संघीय आलंबन को छोड़कर वे कुछ दिन अज्ञात रहे। आवेश का प्रभाव कम हुआ तब वे पुनः संघ की शीतल छाया में आने के लिए आतुर हो उठे। लाडनूं चतुर्मास में ही वे पुनः पूज्य कालूगणी के समक्ष उपस्थित हुए। वहां पहुंचकर उन्होंने भरी परिषद के बीच अपनी गलती को स्वीकार किया। उन्होंने जिस ढंग से अपना अंतःकरण खोलकर रखा, सारी जनता को अपने प्रवाह में ले लिया। वे अविलंब संघ में प्रवेश पाना चाहते थे। पर उस समय उस रूप में उनको संघ-प्रवेश की स्वीकृति धर्मसंघ की अवज्ञा का कारण बन सकती थी। इसलिए बहुत अधिक प्रार्थना के बावजूद भी पूज्य कालूगणी ने स्वीकृति नहीं दी। पूज्य कालूगणी द्वारा कोई आश्वासन न मिलने पर भी उनकी विनम्र प्रार्थना का क्रम चलता रहा। श्रावक समाज और साधु समाज ने भी निवेदन किया। प्रार्थनाओं के सिलसिले में छह मास का समय पूरा हो गया। आगम निर्दिष्ट विधि के अनुसार छह मास के बाद उन्हें नई दीक्षा देकर धर्मसंघ में सम्मिलित किया गया। छह मास का वह समय मुनि श्री सोहनलालजी स्वामी के लिए कसौटी का समय था, जिसमें वे खरे उतरे। उस अवधि में उन्होंने जिस शालीनता और संघभक्ति का परिचय दिया, वह अपने आपमें बेजोड़ है। ऐसे उदाहरण धर्मसंघ के इतिहास में उल्लेखनीय बन जाते हैं।

आदमी के भीतर ऐसा साहस जागे, ऐसा मनोबल जागे और ऐसी लापरवाही जागे कि हमें कोई परवाह नहीं है, लोग हमारे बारे में क्या सोचेंगे, क्या कहेंगे? हमें तो अपनी गलतियों का परिष्कार करना है, शोधन करना है।

आदमी यह चिन्तन करे कि मेरे जीवनकाल में कोई भूल हुई है क्या? जो मेरी आत्मा को मलिन बनाने वाली है अथवा मेरी चेतना में दाग लगाने वाली है। यदि भूल हुई हो तो सरलता के साथ गुरु के समक्ष और साहस हो तो जनता के बीच में उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त स्वीकार कर अपनी आत्मा को पवित्र बनाए।

८

सामायिक से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?** भंते ! सामायिक से जीव क्या प्राप्त करता है ? उत्तर दिया गया—**सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।** सामायिक से वह असत् प्रवृत्ति की विरति को प्राप्त होता है।

सामायिक, जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। एक साधु जीवनभर के लिए सामायिक चारित्र को ग्रहण करता है, साधुत्व को प्राप्त करता है। सामायिक से सावद्ययोग की विरति होती है। सावद्य शब्द भी मीमांसनीय है। स+अवद्य इति सावद्य। 'स' का अर्थ है सहित और 'अवद्य' का अर्थ है पाप और योग का अर्थ है प्रवृत्ति या क्रिया यानी पाप सहित प्रवृत्ति को सावद्ययोग कहा जाता है। पाप सहित प्रवृत्ति का त्याग ही सामायिक की निष्पत्ति है, सामायिक का फल है। जहां एक श्रमण जीवन पर्यन्त सावद्ययोग से विरति को स्वीकार करता है, वहीं एक बारहव्रती श्रावक भी जीवनभर के लिए नौवें सामायिक व्रत की आराधना करता है, देशतः सामायिक का प्रयोग करता है यानी वह भी आजीवन सावद्ययोग से कुछ अंशों में विरत हो जाता है। नौवें व्रत की साधना में एक मुहूर्त्त अर्थात् अड़तालीस मिनट के लिए सावद्ययोग का त्याग किया जाता है। उस समय वह साधु जैसा बन जाता है। प्राकृत वाङ्मय में सुन्दर कहा गया—

सामाइयम्मि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा।।

सामायिक कर लेने पर श्रावक भी साधु जैसा बन जाता है। इसलिए बहुत सामायिक करनी चाहिए। एक पुरुष जब सामायिक करता है तब कुछ अंशों में उसकी वेशभूषा भी जैन श्वेताम्बर मुनि जैसी हो जाती है और साथ में असत् प्रवृत्ति की विरति भी होती है। इसलिए उस काल में वह वेश से भी साधु जैसा और त्याग की दृष्टि से भी काफी अंशों में साधु जैसा बन जाता है। सामायिक एक अनुष्ठान है। जैन श्रावक सामायिक का अभ्यास करते हैं। एक मुहूर्त्त के लिए किया जाने वाला यह आध्यात्मिक अनुष्ठान यदि प्रतिदिन अनुष्ठित हो जाता है तो साधना का एक अच्छा क्रम बन जाता है।

सामायिक में सावद्ययोग से विरति होने का सीधा सा अर्थ है—राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से विरति यानी न मन में राग-द्वेष आए, न वाणी से रागद्वेष का प्रयोग हो और न शारीरिक चेष्टाएं भी रागद्वेष से उत्प्रेरित हों। श्रावक के नौवें व्रत के अन्तर्गत कहा गया—

धर्म है समता, विषमता पाप का आधार है,
जैनशासन के निरूपण, का यही बस सार है।
त्याग कर सावद्य चर्या, सुखद सामायिक करूं,
लीन अपने आपमें हो, मैं भवोदधि को तरूं।।

सामायिक में श्रावक रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से विरत रहने की साधना करता है, समता की साधना करता है। समता की साधना करने का मतलब है समता का अभ्यास करना और समता का अभ्यास करने का मतलब है अपने आपमें रहने का अभ्यास करना। बाह्य विषयों से विरति और स्व में रहने का अभ्यास ही सामायिक का अभ्यास है। सामायिक करने वाला व्यक्ति उस कालमान में साधना के अनेक प्रयोग कर सकता है। वह जप का प्रयोग कर सकता है, ध्यान कर सकता है, स्वाध्याय भी कर सकता है। अनेक उपक्रम एक सामायिक काल में सम्पन्न किए जा सकते हैं। कुछ वर्षों पूर्व पूज्य गुरुदेव तुलसी ने सामायिक का अभिनव प्रयोग शुरु किया। उसमें कुछ प्रयोग निर्धारित किए गए। जप, ध्यान और स्वाध्याय के अतिरिक्त त्रिगुप्ति-साधना, लोगस्स (चतुर्विंशतिस्तव) एवं परमेष्ठी वंदना का पाठ आदि किया जाता है। इस निर्धारित उपक्रम युक्त सामायिक करने से काफी अच्छे ढंग से समता की साधना हो सकती है।

सामायिक के दौरान कभी-कभी मन में चंचलता अथवा राग-द्वेष का

भाव भी आ सकता है। श्रावक यह प्रयास करे कि जितना संभव हो, मैं राग-द्वेष के भावों से विरत रहूं। सामायिक में यदि व्यापार सम्बन्धी बातें की जाती हैं, राजनैतिक और अनेक प्रकार की सांसारिक बातें की जाती हैं तो सामायिक की आराधना में कुछ स्खलना हो सकती है। इतना ही नहीं यदि व्यापार आदि संबंधी विचार या चिन्तन मन में भी आ जाए तो भी सामायिक में दोष लग जाता है। सामायिक अपने आपमें एक बड़ा व्यापार है। जैसे गृहस्थ लोग व्यापार करते हैं और पैसा कमाते हैं, वैसे ही सामायिक करने वाला साधक भी आध्यात्मिक कमाई करता है। इसका बहुत बड़ा आध्यात्मिक मूल्य है।

एक ऐतिहासिक प्रसंग के माध्यम से इस बात को स्पष्ट किया गया है कि सामायिक का कितना बड़ा मूल्य है। भगवान महावीर का पूणिया नामक श्रावक था। वह पूणियां बेचकर अपनी आजीविका चलाता था, बहुत सन्तोषी व्यक्ति था। एक बार राजगृह नगर में भगवान महावीर का आगमन हुआ। राजा श्रेणिक भगवान के दर्शनार्थ पहुंचा और अगले भव में नरक गति का जो आयुष्य बंधा हुआ था, उसे विफल करने का उपाय पूछा। श्रेणिक ने कहा—प्रभो! मैं आपका भक्त नरक में जाऊं, यह बात शोभास्पद नहीं लगती। इसलिए नरक टल जाए, ऐसा कोई उपाय हो तो बताएं। भगवान महावीर तो वेत्ता थे। वे जानते थे कि नरक को टालने का कोई उपाय नहीं है। फिर भी राजा श्रेणिक को समझाने के लिए भगवान ने कहा—श्रेणिक! पूणिया नामक श्रावक मेरा भक्त है। वह बहुत सामयिक करता है। तुम उससे मात्र एक सामायिक खरीद लो तो तुम्हारा नरक गमन टल सकता है। श्रेणिक ने कहा—प्रभो! यह तो बहुत आसान काम है। सम्राट श्रेणिक पूणिया के घर गया। सम्राट को अपने आंगन में देखकर पूणिया ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—सम्राट का इस कुटिया में आना कैसे हुआ? कोई काम था तो आप मुझे आदेश देते। मैं वहां हाजिर हो जाता। आपने यहां पधारने का कष्ट क्यों किया। यद्यपि मेरे लिए तो यह खुशी का विषय है कि मेरे घर में आपके चरण-स्पर्श हो गए। आप हमारे मालिक हैं। फरमाइए, मेरे लिए क्या आदेश है?

सम्राट श्रेणिक ने कहा—पूणिया! अभी मैं सम्राट की हैसियत से नहीं आया हूं। अभी तो मैं याचक बनकर आया हूं।

पूणिया—आप तो हमारे मालिक हैं, दाता हैं। हम आपसे मांग सकते हैं। आप मेरे से क्या मांगने आए हैं?

श्रेणिक—पूणिया! जो चीजें मेरे पास हैं, वे तुम्हारे पास नहीं हैं और जो तुम्हारे पास है, वह मेरे पास नहीं है।

पूणिया—ऐसी कौनसी चीज चाहिए, जो आपके पास नहीं है।

श्रेणिक—मुझे ज्यादा कुछ नहीं चाहिए। तुम बहुत सामायिक करते हो। बस, एक सामायिक मुझे दे दो। उसका जितना मूल्य लेना चाहो, ले लेना।

पूणिया—राजन्! मेरे पास जो कुछ है, वह सब कुछ आपका ही है। मैं आपके किसी काम आ सकूं, इससे बढ़कर और क्या बात होगी?

श्रेणिक—तो बोलो, तुम्हारी सामायिक का कितना मूल्य है?

पूणिया—यह तो मैं नहीं जानता।

श्रेणिक—तुम जितना चाहो, उतना धन ले लो।

पूणिया—राजन्! यह अध्यात्म का सौदा है। इसमें मनगढ़ंत मूल्य का निर्धारण नहीं हो सकता।

श्रेणिक—इसका उचित मूल्यांकन कौन कर सकता है?

पूणिया—महाराज! भगवान महावीर इस व्यापार के प्रमुखतम व्यवसायी हैं। उनके अतिरिक्त सही मूल्यांकन कौन कर सकेगा?

राजा श्रेणिक पूणिया को साथ लेकर भगवान के पास पहुंचा। पूर्व में हुए सम्पूर्ण वृतान्त को सुनाकर कहा—भगवन्! आप ही त्राता हैं, वेत्ता हैं। बताइए, मैं इसे एक सामायिक का कितना मूल्य दूं? प्रभु महावीर ने कहा—श्रेणिक! एक सामायिक की दलाली करने का मूल्य तुम्हारे राज्य के समग्र वैभव से कई गुना अधिक है। तब सामायिक का मूल्य कितना होगा, तुम स्वयं सोच लो। अब सम्राट श्रेणिक समझ गया कि सामायिक का मूल्य चुकाया नहीं जा सकता और सामायिक को खरीदे बिना मेरा नरक-गमन टल नहीं सकता यानी मुझे नरक में तो जाना ही पड़ेगा। जैन साहित्य का कथन है कि राजा श्रेणिक को हिंसा में आसक्ति आदि कारणों से नरक में जाना पड़ा। वे वर्तमान में नरक में हैं किन्तु हजारों वर्ष बाद वे नरक से निकल कर आने वाले उत्सर्पिणी काल में इसी भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभ की तरह प्रथम तीर्थंकर बनेंगे।

प्रस्तुत प्रसंग के माध्यम से यह अवबोध देने का प्रयास किया गया है कि सामायिक करना कोई सामान्य बात नहीं है, बहुत उत्तम बात है। इसलिए

श्रावक को प्रतिदिन सामयिक करने का अभ्यास या प्रयास करना चाहिए। मैं प्रायः श्रावक समाज को प्रेरणा दिया करता हूं कि प्रतिदिन एक सामायिक कर सको तो बहुत अच्छी बात है। यदि रोजाना न भी कर सको तो एक महीने में चार कर लो। यदि चार भी न कर सको तो कम से कम दो तो कर लो। जब दो के लिए भी नकारात्मक स्वर सुनाई देता है तब मैं और न्यूनता में चला जाता हूं और कहता हूं कि एक तो कर लो, ताकि तुम्हारे जीवन में सामायिक का क्रम तो शुरू हो जाए।

आदमी सामायिक करे उस काल में तो समता रहे ही। अच्छा तो यह हो कि एक सामायिक का प्रभाव दिनभर बना रहे। जैसे एक बार आदमी पर्याप्त मात्रा में भोजन कर लेता है। उस भोजन का प्रभाव कई घण्टों तक बना रहता है। आदमी को ऊर्जा प्राप्त होती रहती है और वह काम करता रहता है। इसी प्रकार सामायिक के अभ्यासी व्यक्ति के मन, वचन और शरीर पर भी सामायिक का प्रभाव बना रहे। सामायिक की गहराई में जाकर आदमी यह चिन्तन करे कि सामायिक में तो मुझे विशेष साधना करनी ही है, उसके अतिरिक्त भी जहां तक संभव हो सके, मैं समता का प्रयोग करूं। चाहे वार्तालाप करूं, चाहे भोजन करूं अथवा अन्य कोई कार्य करूं। प्रत्येक कार्य राग द्वेष मुक्त होकर करूं। वार्तालाप के दौरान व्यक्ति यह ध्यान रखे कि मैं उत्तेजना में न आ जाऊं। मुझे गुस्सा/आक्रोश न आ जाए। मैं समता से उत्प्रेरित हो सहज भाव से बात करूं। भोजन करते समय भी आदमी यह सोचे कि मुझे समता का अभ्यास करना है इसलिए मनोज्ञ भोजन में रागात्मक भाव न आए और अमनोज्ञ भोजन में द्वेषात्मक भाव न आए। आदमी का यह लक्ष्य बन जाए कि मुझे समता का प्रयोग करना है तो वह समता को पुष्ट कर सकता है। यदि लक्ष्य ही न बने, जीवन ढर्रे की तरह चलता रहे तो विकास की कोई विशेष संभावना नहीं रहती। समता में जो सुख है, वह विशिष्ट होता है।

श्रीमद् भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ की बात कही गई है। स्थितप्रज्ञता और समता मुझे एक ही प्रतीत होते हैं। समता है तो स्थितप्रज्ञता है और स्थितप्रज्ञता है तो समता है। दोनों एक ही बात है। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव!** हे केशव! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? तब श्रीकृष्ण ने कहा—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

हे अर्जुन! जब साधक मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ देता है और अपने आपमें सन्तुष्ट रहता है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जहां विषमता है वहां पाप है। जहां समता है वहां धर्म है। अपने आपको यदि प्रसन्न बनाए रखना है तो समता का अभ्यास आवश्यक है। अखण्ड प्रसन्नता तब प्राप्त होती है जब आदमी रागद्वेष मुक्त हो जाता है। अनुकूल प्रसंग आने पर राग का भाव नहीं और प्रतिकूल प्रसंग आने पर द्वेष का भाव नहीं, जब इस भूमिका की प्राप्ति हो जाती है तब आदमी को सतत प्रसन्नता की प्राप्ति हो सकती है। एक राजा अपने गुरु के पास गया और निवेदन किया—गुरुदेव! पूर्व पुण्याई के योग से मुझे सत्ता मिली है किन्तु चित्त में शांति नहीं रहती। आए दिन विभिन्न घटना प्रसंग आते रहते हैं। उनसे मन उद्वेलित हो जाता है। आप मुझे कोई ऐसा मार्गदर्शन दें जिससे मैं राज्य का संचालन भी कर सकूं और शांति के साथ रह सकूं। गुरु ने कहा—राजन्! एक मंत्र याद कर लो—'यह भी बीत जाएगा'। इस एक वाक्य को जीवन में अपना लो, आत्मसात कर लो, तुम्हें शांति मिल जाएगी। राजा ने यह वाक्य अपनी अंगुठी में अंकित करवा लिया। जब कभी अनुकूलता का प्रसंग आता तो राजा सोचता मुझे ज्यादा खुशी नहीं मनानी चाहिए क्योंकि यह भी बीत जाएगा। यह बात भी कभी समाप्त हो जाएगी। जब प्रतिकूल प्रसंग आता, राजा सोचता—यह दुःख का प्रसंग भी बीत जाएगा इसलिए मुझे दुःखी नहीं बनना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करते-करते राजा समतावान बन गया। वह तनाव मुक्त भी हो गया और उसे सहज प्रसन्नता की स्थिति भी प्राप्त हो गई। आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया—

जो न विवट्टइ रागे नवि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि।
सो होइ उ मज्झत्थो सेसा सव्वे अमज्झत्था।।

जो न राग में वर्तन करता है और न द्वेष में वर्तन करता है, दोनों से स्पृष्ट न होकर मध्य में रहता है, वह मध्यस्थ होता है। शेष सभी अमध्यस्थ होते हैं। सामायिक शब्द का एक निरुक्त है, जिसमें सम-मध्यस्थ भाव की आय यानी उपलब्धि होती है, वह सामायिक है। सामायिक से सावद्य योग की विरति होती है। इस पवित्र अनुष्ठान को करने से आदमी बहुत पापों से बच जाता है और आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर हो जाता है।

१

चतुर्विंशतिस्तव से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! चतुर्विंशतिस्तव से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।** चतुर्विंशतिस्तव से वह दर्शन विशोधि को प्राप्त करता है।

जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा चलती है। वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ हुए और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर। तीर्थंकर वे होते हैं, जो वीतराग होते हैं, केवलज्ञान संपन्न होते हैं, अधिकृत प्रवचनकार होते हैं और धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। उन चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई, जिसे आम भाषा में 'लोगस्स' कहा जाता है। यह स्तोत्र है तो छोटा किन्तु बड़ा भावपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों का नामोल्लेखपूर्वक वंदन, स्तवन किया गया है। इसका यदि अच्छी तरह पाठ किया जाए तो आत्मशुद्धि तो होती ही है, अन्य विघ्न बाधाओं से भी मुक्ति संभव हो सकती है।

जैन वाङ्मय में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया गया है। उन तीनों का योग होने से मोक्ष मिलता है। वैदिक वाङ्मय में इन तीनों को भक्ति योग, ज्ञानयोग और कर्मयोग कहा गया है। कुछ लोग ज्ञान रसिक होते हैं। वे ज्ञान की आराधना अधिक करते हैं। वे शोध करते हैं और स्वाध्याय में लीन रहते हैं। कुछ लोग ज्ञानाराधना

में ज्यादा रुचि नहीं लेते अथवा उनमें वैसी प्रतिभा ही नहीं होती। वे भक्ति मार्ग को स्वीकार करते हैं। अधिक ज्ञान के बिना भी आसानी से भक्ति का प्रयोग किया जा सकता है और चेतना को शुद्ध बनाया जा सकता है। कुछ लोग न तो ज्ञानाराधना में ज्यादा रुचि लेते हैं और न ही भक्ति को ज्यादा महत्व देते हैं। वे शुद्ध आचरण को महत्व देते हैं। कर्मयोग के आधार पर वे अनासक्त भाव से ऐसे पवित्र कार्य करते हैं, जिससे कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके।

चतुर्विंशतिस्तव एक प्रकार का भक्ति योग का प्रयोग है। भक्ति दो प्रकार की होती है—एक बाह्य भक्ति और दूसरी आन्तरिक भक्ति। कुछ लोग व्यवहार में बहुत भक्ति दिखाते हैं, बहुत सत्कार-सम्मान करते हैं परन्तु अन्तर मन में उनके प्रति कोई ज्यादा लगाव नहीं होता। कुछ लोग ऊपरी व्यवहार ज्यादा नहीं निभाते किन्तु अन्तर मन में बहुत भक्ति का भाव रखते हैं। उन दोनों भक्तियों में से यदि किसी एक का चुनाव करना हो या निर्णय करना हो तो मैं आन्तरिक भक्ति को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता हूं। अपेक्षा इस बात की है कि भक्ति की साधना करने वाला व्यक्ति केवल ऊपरी भक्ति तक ही न जाए बल्कि उसकी चेतना के कण-कण में आन्तरिक भक्ति निष्पन्न हो ताकि वह भक्ति आदमी को कल्याण के पथ की ओर बढ़ाती रहे। प्राकृत वाङ्मय में कहा गया—

एक्को वि णमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसायराओ तारेइ, नरं वा नारियं वा।।

चौबीस तीर्थंकरों अर्थात् भगवान ऋषभ से लेकर भगवान महावीर तक के तीर्थंकरों को यदि एक बार भी नमस्कार कर लिया जाता है तो वह एक नमस्कार भी, नमस्कार करने वाले व्यक्ति को चाहे वह पुरुष हो या नारी, संसार समुद्र से पार उतारने वाला हो सकता है। लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि उसमें वैसी भक्ति हो। मात्र ऊपरी नमस्कार कर लिया जाए किन्तु भीतर में भक्ति न हो तो ज्यादा लाभ की संभावना नहीं की जा सकती।

जैन साधना पद्धति में सम्यक् दर्शन पर बहुत बल दिया गया है। यहां तक कहा गया है कि सम्यक् दर्शन के बिना मात्र ऊपरी आचार-पालन कोई

विशेष कल्याण नहीं कर सकता। सम्यक्त्व युक्त आचार-पालन से बहुत लाभ मिल सकता है। मूल बात है कि साधना के पथ पर बढ़ने वाले साधक के लिए सम्यक्त्व आवश्यक है। सम्यक्त्व के साथ यदि सदाचार का पालन किया जाए तो बहुत लाभ मिल सकता है।

भक्ति का एक अर्थ यह भी किया गया है—

मोक्षसाधनसामग्र्यां, भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसंधानं, भक्तिरित्यभिधीयते।।

भक्ति को मोक्ष-साधना की साधन सामग्री बतलाया गया है। उत्तम भक्ति वह है जो अपने स्वरूप का अनुसंधान करा सके। सचमुच, भक्ति का लक्ष्य भी यही होना चाहिए कि आदमी किसी माध्यम से अपने स्वरूप का अनुसंधान कर सके। वीतराग आत्माओं का स्मरण करने से आदमी के भीतर भी वीतराग चेतना जाग सकती है और अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है। उदहरणार्थ—एक आदमी पानी के कुण्ड में गिर गया। उसके लिए बाहर निकलना मुश्किल हो रहा था। बाहर एक व्यक्ति खड़ा था। उसने कुण्डस्थ व्यक्ति को हाथ पकड़कर बाहर निकाल लिया। इसी प्रकार वीतराग पुरुष हमसे बहुत ऊपर हैं। हम अभी नीचे हैं। वे हमारा हाथ पकड़कर ऊपर उठा सकते हैं। उसका माध्यम बनाया गया वीतराग-स्मरण और भक्ति को।

भक्ति में शक्ति होती है। जो आदमी विशुद्ध भाव से भक्ति करता है। उसमें शक्ति की जागरणा भी हो सकती है। पूज्य गुरुदेव तुलसी एक पौराणिक कथा सुनाया करते थे। एक बार नारदजी के मन में विचार आया कि मैं भगवान के दरबार में जाऊं और उनकी निजी डायरी को देखूं। नारदजी तत्काल भगवान के पास पहुंच गए और बोले—भगवन्! मेरे मन में एक जिज्ञासा है। आपकी जो पर्सनल डायरी है, उसमें आपके भक्तों की सूची अवश्य होगी। मैं उस सूची को देखना चाहता हूं।

भगवान ने कहा—नारद! तुम मेरी डायरी को तो बाद में देखना। पहले एक जरुरी काम है, वह करो।

नारद—कौनसा काम करूं?

भगवान—नारद! मेरे पेट में भयंकर दर्द हो रहा है, उसका उपचार करो।

नारद—प्रभो! आप आदेश दें। आपके लिए कौनसी दवा लाऊं?

भगवान—नारद! तत्काल किसी आदमी का कलेजा मिल जाए तो मेरे पेट का दर्द ठीक हो सकता है।

नारद—अभी लाता हूं भगवान। वे तत्काल मनुष्य लोक में आए और सीधे मन्दिर में गए, जहां अनेक भक्त लोग बैठे थे। पूजा-आरती हो रही थी। वहां जाकर कहा—भक्तो! भयंकर कलियुग आ गया है। बड़े दुःख की बात है कि भगवान के पेट में भी दर्द होने लग गया है। आपमें से कोई भक्त आगे आए और अपना कलेजा मुझे दे दे। मैं उसे भगवान को समर्पित कर दूं जिससे दर्द शांत हो सके। जैसे ही कलेजा देने की बात सामने आई, भक्तजन एक-एक करके सारे चले गए। मात्र एक पुजारी वहां रहा।

नारद—पुजारीजी! आप तो इतनी भक्ति करते हैं। आप हिम्मत कीजिए और अपना कलेजा मुझे दे दीजिए।

पुजारी—नारदजी! मैं कलेजा दे दूंगा तो भगवान की भक्ति कौन करेगा? इसलिए मैं कलेजा नहीं दे सकता। नारदजी जगह-जगह गए, परन्तु उन्हें कहीं कलेजा नहीं मिला। वे निराश होकर पुनः भगवान के पास जा रहे थे। जंगल में एक भील जाति का व्यक्ति मिला। उसने नमस्कार किया और पूछा—ऋषिवर! आप इतने उदास क्यों हैं और कहां जा रहे हैं?

नारद—अरे भील! तुमसे मुझे क्या मिलेगा? खैर..... भगवान के पेट में दर्द हो रहा है। मुझे एक इन्सान के कलेजे की जरूरत थी, परन्तु मुझे कहीं नहीं मिला। इसलिए उदासीनता के साथ जा रहा हूं।

भील—नारदजी! बस, इतनी सी बात है। तत्काल हाथ में धनुष लिया, छाती को चीरा और कलेजा निकालकर दे दिया। कलेजा लेकर नारदजी खुशी से उछलते हुए भगवान के दरबार में उपस्थित हुए।

भगवान—नारद! इतनी देरी कैसे कर दी?

नारद—प्रभो! देरी तो हो गई किन्तु कलेजा मिल गया। इतनी देर मैं जगह-जगह घूमता रहा। मुझे कहीं कलेजा नहीं मिला। आखिर लौटते वक्त एक भील ने कलेजा दिया।

भगवान ने धीरे से कहा—नारद! क्या तुम्हारे पास कलेजा नहीं था?

नारद—प्रभो! यह तो मैं भूल ही गया।

भगवान—मेरी निजी डायरी में जो भक्तों की सूची है, उसमें पहला नाम उस भील का ही है।

भक्तिमार्ग एक सीधा मार्ग है। उसमें वास्तविकता होनी चाहिए, कुछ बलिदान करने की हिम्मत होनी चाहिए। फिर भक्ति में भी बलवत्ता आ सकती है। तीर्थंकरों की भक्ति करने से सम्यक्त्व निर्मल बनता है। मेरा विशेष रूप से उन लोगों के लिए परामर्श है, जो अवस्था से वृद्ध हो गए हैं, जो ज्ञानाराधना में समर्थ नहीं हैं, जो पुनीत सेवा कार्य करने में भी असमर्थ हैं, जो प्रायः बिस्तर पर ही बैठे या लेटे रहते हैं, अपने आपमें अक्षमता का अनुभव करते हैं। ऐसे व्यक्ति किसी पवित्र मंत्र का घण्टों-घण्टों जप करते रहें, भक्तियोग का विशेष प्रयोग करें। इससे भावशुद्धि होती है। यदि मन जप में लग जाए तो सहज आनन्दानुभूति हो सकती है। जप के दौरान अन्य बातों की निवृत्ति हो जाती है। पापों से बचाव और अगली गति अच्छी होने की संभावना भी बन सकती है। इसलिए आध्यात्मिक साधना के प्रयोगों में भक्ति मार्ग या जप का प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

भक्तियोग में आदमी भक्ति तो करे किन्तु साथ में गलत काम भी करे तो वह भक्ति सफल नहीं होती। जैसे दवा के साथ अनुपान का सिद्धान्त है वैसे ही भक्ति भी एक प्रकार की दवा है। उसका अनुपान है सदाचार। भक्ति और सदाचार का ठीक योग हो जाए तो कल्याण का पथ स्वतः प्रशस्त हो जाता है।

जैन वाङ्मय में जहां ज्ञान और आचरण का महत्त्व बताया गया है, वहीं दर्शन-विशुद्धि को भी बहुत आवश्यक माना गया है। चौबीस तीर्थंकरों की जो उत्कीर्त्तना की गई है, उसके तीन प्रयोजन हैं—दर्शन विशोधि, बोधिलाभ और कर्मक्षय। दर्शन शुद्धि का एक उपाय यह बताया गया कि वीतराग प्रभु की आराधना करो। इसमें एक रहस्य मुझे यह प्रतीत हो रहा है कि वीतराग पुरुषों की अन्तर मन से भक्ति करने का मतलब है कि आदमी वीतरागता की अनुमोदना करता है और अनुमोदना करने का मलतब है कि आदमी का उसके प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। जिसके प्रति आकर्षण होता है, उस ओर गति भी हो सकती है। इस प्रकार भक्ति की निष्पत्ति होगी कि व्यक्ति वीतरागता की ओर बढ़ने लग जाएगा और एक समय ऐसा आएगा

कि वह स्वयं वीतराग बन जाएगा।

चतुर्विंशतिस्तव में चौबीस तीर्थंकरों का नामोल्लेख है किन्तु वास्तव में देखा जाए तो नाम की बात गौण है, कोई भी वीतराग आत्मा हो, उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया जाए तो संसार समुद्र का किनारा अपने आप मिल जाएगा। आचार्य हेमचन्द्र ने ठीक ही कहा था—

'भव-बीजांकुर को उत्पन्न करने वाली राग आदि की चेतना जिसकी समाप्त हो गई, फिर उसका नाम कोई भी हो, चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महेश हो या जिन हो, नाम से कोई मतलब नहीं, जिसमें वीतरागता आ गई, उस आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं।'

आदमी वीतराग पुरुष के एक मंत्र को पकड़ ले और इतनी गहराई से पकड़े कि वह चाहे कुछ भी काम करे किन्तु भीतर ही भीतर अजपाजप चलता रहे और किसी न किसी रूप में उसके साथ तादात्म्य बना रहे। इससे भावात्मक शुद्धि बनी रहती है। इस प्रकार दर्शन विशोधि के द्वारा आदमी कल्याण के पथ को प्रशस्त कर सकता है और अपनी मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

१०

वंदना से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! वन्दना से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।** वन्दना से वह नीच कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है, ऊंचे कुल में उत्पन्न होने वाले कर्म का अर्जन करता है। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करे वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है।

हमारे धर्मसंघ में वंदना/अभिवादन का मूल्यांकन किया गया है। कुछ व्यक्ति इतने विनम्र होते हैं कि बहुत जल्दी उनके हाथ जुड़ जाते हैं तो कुछ व्यक्तियों में अहंकार भी होता है। प्रश्न हो सकता है कि वन्दनीय कौन होता है? हम लोकोत्तर दृष्टि से विचार करें, आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन करें तो वीतराग पुरुष या साधनाशील साधक वन्दनीय होते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया है—

दंसणनाणचरित्ते तवविणए निच्चकालमुज्जुत्ता।
एए उ वंदणिज्जा जे जसकारी पवयणस्स।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विनय की आराधना में सतत संलग्न प्रवचन-प्रभावक मुनि वन्दनीय हैं।

समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं।
पंचसमिय तिगुत्तं, अस्संजमदुगुंछगं।।

पांच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त तथा असंयम से जुगुप्सा करने वाले संयत सुसमाहित श्रमण वन्दनीय हैं। कुछ आत्माएं परोक्ष वन्दनीय होती हैं और कुछ प्रत्यक्ष वन्दनीय होती हैं। परमात्मा/सिद्धात्मा हमसे परोक्ष है। उनको परोक्ष वंदना की जाती है। आदमी दूर होने पर भी अपनी भावना से उन्हें वन्दना कर लेता है। गुरु, उपाध्याय, साधु आदि जो सम्मुख होते हैं, उनको प्रत्यक्ष वन्दना की जा सकती है। वन्दना करने की अनेक विधियां हैं। कोई साष्टांग प्रणाम करता है तो कोई पंचांग प्रणतिपूर्वक वन्दना करता है। कोई एक हाथ से अभिवादन करता है तो कोई दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता है। ये सब तो सम्मान अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। भिन्न भिन्न प्रकार से सम्मान की अभिव्यक्ति की जाती है। मूल बात है कि आदमी में अहंकार का विलय हो और नम्रता का भाव पुष्ट हो। वन्दना करने से अहंकार गलित होता है। उससे आत्मा पर जो मैल चढ़ा हुआ होता है, वह कुछ कम हो जाता है।

जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि शुभयोग यानी आध्यात्मिक प्रवृत्ति करने से दो कार्य होते हैं—कर्मों की निर्जरा और पुण्य का बंध। जब भी शुभ प्रवृत्ति होती है, सत्कार्य होता है तब दोनों काम होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि पहले कर्मों की निर्जरा होती है या पुण्य का बंध? पहले-पीछे पर विचार करें तो सिद्धान्त कहता है कि पुण्य का बन्ध पहले होता है और निर्जरा उसके बाद होती है। दोनों काम एक साथ शुरु हो जाते हैं। पुण्य-बन्ध सम्पन्नता पहले हो जाती है। ठीक उसके बाद कर्म-निर्जरा की सम्पन्नता होती है। निर्जरा और पुण्यबंध दोनों का साहचर्य है, योग है। जहां निर्जरा होती है, वहां सामान्यतया साथ में पुण्य का बन्ध भी होता है। इस प्रकार एक बड़ा मार्मिक सिद्धान्त बताया गया है कि वंदना करने से पाप कर्म की निर्जरा होगी और पुण्य कर्म का बंधन होगा। नीच गोत्रकर्म का निर्जरण होगा और उच्च गोत्र कर्म का बंध होगा। जैन कर्मवाद के अनुसार जहां अहंकार का प्रयोग होता है, अहंकारपूर्ण व्यवहार होता है, वहां पाप कर्म का बन्ध होता है। जिससे आदमी की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। जहां नम्रता का प्रयोग होता है, वहां शुभकर्म का बन्ध होता है। जिससे आदमी को प्रतिष्ठा, सम्मान मिलता है।

लोग सन्तों को नमस्कार करते हैं क्योंकि उनके मन में सन्तों के प्रति श्रद्धा का भाव है, सम्मान का भाव है। मेरा मानना है कि सन्तों को वंदना करने से, उनके पास जाने से, उनकी संगत करने से अनेक लाभ हैं। अनेक बुराइयों से

छुटकारा मिल जाता है। मैं गृहस्थों को देखता हूं, जिनका मस्तक बड़े-बड़े राजाओं, मन्त्रियों के चरणों में नहीं झुकता है, उनका मस्तक छोटे से मुनि के चरणों में झुक जाता है। जिनके पास सत्ता है, धन है, उनके पास आदमी जा सकता है, नमस्कार भी कर सकता है किन्तु मस्तक को चरणों में नहीं लगाता। और तो क्या, अपने माता-पिता के चरणों में भी आदमी का मस्तक नहीं लगता। परन्तु एक सन्त के चरणों का आदमी अपने मस्तक से स्पर्श करता है। संस्कृत साहित्य में अभिवादन/नमस्कार करने से और वृद्धों की सेवा करने से चार लाभ बताए गए हैं—१. आदमी का आयुष्य बढ़ता है। २. विद्या बढ़ती है। ३. यश बढ़ता है। ४. बल बढ़ता है।

यद्यपि मैं इसे ऐकान्तिक तो नहीं मानता कि अभिवादन करने से आयुष्य लम्बा हो ही जाएगा। परन्तु इसमें एक रहस्य अवश्य लगता है। अकाल मृत्यु का एक कारण भावात्मक अशुद्धि बन सकता है। वंदना करने से भाव शुद्ध होते हैं। भावशुद्धि से अकाल मृत्यु के एक कारण को समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार आयुष्य लम्बा हो सकता है। दूसरा लाभ बताया गया कि अभिवादन करने से, नम्रता करने से विद्या का विकास होता है। गुरु के सामने विनम्रता करने से गुरु प्रसन्न मन से ज्ञान देंगे, जिससे विद्या का विकास हो सकेगा। नम्रता करने से ग्रहण शक्ति भी अच्छी हो सकती है और आदमी विद्या का अर्जन एवं संवर्द्धन कर सकता है। तीसरा लाभ बताया गया कि अभिवादन करने से यश बढ़ता है। जिस व्यक्ति का व्यवहार अच्छा होता है, जो दूसरों का सम्मान करता है और जो समय पर झुकना जानता है, लोग भी उसे सम्मान देते हैं। उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। चौथा लाभ बताया गया कि अभिवादन करने से बल बढ़ता है। बड़ों को प्रणाम करने से, वंदना/नमस्कार करने से ऊर्जा का संप्रेषण हो सकता है। जिससे आदमी की ताकत बढ़ती है और चेतना भी निर्मल बन सकती है। इस प्रकार वंदना करने से अनेक लाभ हो सकते हैं। नम्रता से पुण्य का बंध होता है। उन पुण्य कर्मों के योग से सत्ता की प्राप्ति हो सकती है और दूसरों को प्रभावित करने वाले व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है।

वंदना करने का भी विवेक होना चाहिए। किसको, कहां, कैसी स्थिति में वन्दना करनी चाहिए, इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया है—

वक्खित्तपराहुत्ते अ पमत्ते मा कया हु वंदिज्जा।
आहारं च करिंतो नीहारं वा जइ करेइ।।
पसंते आसणत्थे य, उवसंते उवट्ठिए।
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए।।

मुनि पीठ पीछे से, क्लांत और अनुपशांत अवस्था में तथा आहार-नीहार के समय वन्दना न करे। मेधावी मुनि अनुज्ञा प्राप्त कर कृतिकर्म का प्रयोग तब करे, जब वन्दनीय व्यक्ति प्रशांत हो, आसन पर बैठा हो, उपशान्त हो, उपस्थित हो, वन्दना करवाने की स्थिति में हो। कृतिकर्म के बत्तीस दोष बताए गए हैं, जैसे अनादरपूर्वक वंदना करना, गर्व से उद्धत हो वंदना करना, गौरव के लिए वंदना करना, शठता से वन्दना करना, तिरस्कार करते हुए वंदना करना, विकथा करते हुए वन्दना करना आदि।

प्रश्न हो सकता है कि आदमी वन्दना क्यों करे? समाधान दिया गया कि व्यक्ति गुरुजनों को ऐहिक प्रयोजन के लिए वन्दना न करे, पारलौकिक प्रयोजन के लिए वन्दना न करे और न कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक की प्राप्ति के लिए वन्दना करे। वह केवल निर्जरा के लिए तथा विशेष रूप से आठ प्रकार के मद का परिहार कर नीच गोत्र कर्म की क्षीणता के लिए वंदना करे। संवेग रस से परिपूर्ण हो गोत्रातीत अवस्था की प्राप्ति के लिए पुनः पुनः वन्दना करे।

शास्त्रकार ने यह भी बताया कि वन्दना करने से लोग उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करे वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त करता है। कौशाम्बी नगरी का राजा गंगपाल और कुणाल नरेश का नाम भूमिपाल था। दोनों में परस्पर संघर्ष चल रहा था। एक बार दोनों में युद्ध छिड़ गया। उसमें गंगपाल की सेना हार गई। राजा स्वयं पकड़ा गया। नगरसेठ, सेनापति आदि भी पकड़ में आ गए। पहरे के बीच में रात व्यतीत की। दूसरे दिन सवेरे नाश्ता लेकर अधिकारी आया।

सेठ ने पूछा—शहर में कोई सन्त हैं क्या?

अधिकारी ने कहा—स्थिरवासी संत हैं।

सेठ ने कहा—पहले सन्तों के दर्शन करवा दो, फिर नाश्ता करेंगे।

अधिकारी तमककर बोला—हम तुम्हारे नौकर हैं क्या, जो दर्शन करवा

दें। खाना है तो खा लो, किसी का बंधन नहीं खोला जाएगा। सेठ ने नाश्ते के लिए इन्कार कर दिया। शेष सबने नाश्ता कर लिया। सेठ के क्रमशः तेला हो गया। कुणाला नरेश ने तीसरे दिन शाम को अधिकारी से पूछा—सब ठीक चल रहा है ना? बन्दी लोगों का स्वास्थ्य तो ठीक है ना?

अधिकारी ने कहा—और तो सब ठीक हैं? एक नगरसेठ श्रीकांत अनशन पर है। तीन दिनों से कुछ भी खाया-पीया नहीं है। राजा ने अनशन का कारण पूछा, तब अधिकारी ने संत दर्शन करने का आग्रह बतलाया। राजा ने कहा—इसका मतलब है, सेठ निर्ग्रन्थ भक्त है और मैं भी निर्ग्रन्थ भक्त हूं। तब तो हम दोनों धर्म भाई हैं। धर्म भाई को कैद में रखना धर्म की अवहेलना करना है। राजा कारावास में आया, सेठ से मिला और बातचीत की। नियम की बात राजा की समझ में आ गई। राजा ने हाथ से बंधन खोला, स्वयं साथ चलकर सन्तों के दर्शन करवाए। स्थविर मुनि सेठ को जानते थे। सेठ मंगलपाठ सुनकर वापिस कारागृह में आ गया। राजा उसे महलों में ले जाना चाहता था किन्तु सेठ ने कहा—मैं अकेला नहीं आऊंगा, आयेंगे तो सब आयेंगे। राजा ने उसे मुक्त करना चाहा किन्तु सेठ नकार गया और बोला—अकेला नहीं जाऊंगा, मुक्त होंगे तो सब साथ में होंगे। सेठ ने अवसर देखकर राजा को समझाया कि कटुता में दोनों जनपदों का नुकसान है। अच्छा हो दोनों में मैत्री हो जाए। राजा, मंत्री आदि के बात जच गई। दोनों में संधि हो गई। सब छूट गए। वन्दना अथवा सन्त दर्शन के नियम से ही राजा अनुकूल बना। सब कौशाम्बी आ गए। राजा गंगपाल ने नगर सेठ का बहुत उपकार माना।

वन्दना करने से अनेक लाभ होते हैं—नीच गोत्र कर्म की निर्जरा, उच्च गोत्र कर्म का बंध और अबाधित सौभाग्य की प्राप्ति होती है। इसके साथ-साथ विनय की आराधना होती है, अहंकार का नाश होता है, गुरुजनों की पूजा, अर्हत् आज्ञा का पालन, श्रुतधर्म की आराधना और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वन्दना करने से सन्तों से सम्पर्क होता है। उनकी वाणी सुनने का अवसर मिलता है। सन्तों की वाणी श्रवण से बुराइयां दूर हो सकती हैं और अच्छाइयों का विकास हो सकता है। इसलिए आदमी वन्दना व्यवहार करे और उससे होने वाले लाभों को प्राप्त करने का प्रयास करे।

११

प्रतिक्रमण से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहियए विहरइ।** प्रतिक्रमण से वह व्रत के छेदों को ढक देता है। जिसने व्रत के छेदों को भर दिया, वैसा जीव आश्रवों को रोक देता है, संयम में एकरस हो जाता है और भलीभांति समाधिस्थ होकर विहार करता है।

'प्रतिक्रमण' शब्द जैन साधना चर्या का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। जैनदर्शन और जैन साधना पद्धति का यह एक पारिभाषिक शब्द है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—लौट आना। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

स्वस्थानात् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।।

प्रमादवश पर स्थान (असंयम) में चले जाने पर पुनः स्वस्थान (संयम) में आना प्रतिक्रमण कहलाता है।

क्षायोपशमिकाद्भापि भावादौदयिकं गतः।
तत्रापि हि स एवार्थः प्रतिकूलगमात् स्मृतः।।

क्षायोपशमिक भाव से जब व्यक्ति औदयिक भाव में चला जाता है। वहां से वह पुनः प्रतिकूल गमन करता है अर्थात् औदयिक भाव से

क्षायोपशमिक भाव में लौटना ही प्रतिक्रमण है। एक साधक चारित्र को स्वीकार करता है, साधना के लिए व्रतों को स्वीकार करता है। परन्तु प्रमाद के कारण कभी-कभी दोषों का सेवन भी हो जाता है। जैनदर्शन में चौदह गुणस्थान बताए गए हैं। उनमें साधु की भूमिका छठे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक साधुत्व होता है। साधु में प्रमाद एकमात्र छठे गुणस्थान में हो सकता है। छठे गुणस्थान के बाद प्रमाद जैसा कोई तत्त्व नहीं रहता। सातवां गुणस्थान तो अप्रमत्त संयत गुणस्थान होता है। वहां प्रवेश कर आगे बढ़ने के बाद प्रमाद नहीं होता। कषाय दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय की सत्ता रहती है। बारहवें गुणस्थान में कषाय बिलकुल नहीं रहता, निर्मोहता की स्थिति पैदा हो जाती है और तेरहवें गुणस्थान में तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति बहुत अल्प समय की होती है। पांच ह्रस्वाक्षर—अ इ उ ऋ ऌ का उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक अयोगी अवस्था रहती है। फिर वह अयोगी केवली सब कर्मों से मुक्त होकर मुक्तिश्री का वरण कर लेता है।

छठे गुणस्थानवर्ती साधु से दोष का सेवन हो सकता है। पांच समितियां और तीन गुप्तियां साधुचर्या के अभिन्न अंग हैं। साधु की हर क्रिया में अहिंसा के प्रति जागरूकता रहे, यह अपेक्षित है। चलते समय साधक देख-देखकर चले। कोई जीव पैर के नीचे आकर मर न जाए। इन्द्रिय-विषय और स्वाध्याय का वर्जन करता हुआ चले। चलते समय बातें न करे, मौनपूर्वक चलने का प्रयास करे। बोलने में भी अहिंसा का प्रयोग हो। कटु भाषा, सावद्य भाषा का प्रयोग न हो। निरवद्य, परिमित और विचारपूर्वक बोले। आहार-पानी के ग्रहण और भोग में भी अहिंसा की साधना हो। साधक गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा में जागरूक रहे। वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों के आदान और स्थापन में संयम का प्रयोग हो। संयमपूर्वक उपकरणों को ग्रहण करे और रखे। उत्सर्ग में भी अहिंसा के प्रति सावधान रहे। उच्चार, प्रश्रवण, श्लेष्म आदि का संयमपूर्वक परिष्ठापन करे। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में संयम हो। ये आठ प्रवचन माताएं हैं। इनमें यदा-कदा दोषों का सेवन हो सकता है। हालांकि दोष सेवन होना तो नहीं चाहिए किन्तु चूंकि वह छद्मस्थ है, प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला है इसलिए कभी कभी अशुभयोग का सेवन हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि दोष सेवन करना नहीं चाहिए फिर भी बीच-बीच में वैसा हो

जाता है तो फिर दोष विशुद्धि के लिए क्या करना चाहिए? दोष-विशुद्धि के लिए एक मार्ग बताया गया कि प्रतिक्रमण करते रहो, जिससे दोषों का सफाया हो सके।

आदमी चलता है। चलते समय कपड़ों पर कभी गन्दे पानी या कीचड़ के छींटे भी लग सकते हैं। आदमी पानी और साबुन से उसको साफ कर लेता है, कपड़ा स्वच्छ हो जाता है। आदमी शरीर की शुद्धि के लिए स्नान करता है। आत्मा पर लगे दोषों को विगत करने के लिए, निराकृत करने के लिए प्रतिक्रमण भी एक प्रकार का स्नान है।

छह आवश्यक बताए गए हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छहों में चौथा आवश्यक प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का तात्पर्यार्थ है—अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभयोग में आना। जो दोष लगे, उसकी आलोचना आदि करके, प्रतिक्रमण करके दोषों को साफ कर देना, चेतना को निर्मल बना लेना। एक अहोरात्र में दो बार प्रतिक्रमण करना साधु का विधान है। सूर्योदय से पहले एक मुहूर्त्त का और सूर्यास्त के बाद एक मुहूर्त्त का समय प्रतिक्रमण का होता है। दो बार प्रतिक्रमण इसलिए किया जाता है कि दिन में लगे दोषों की शुद्धि सायंकालीन यानी दैवसिक प्रतिक्रमण से हो जाए और रात्रि में लगे दोषों की शुद्धि रात्रिक प्रतिक्रमण यानी रात्रि के अन्त में किए जाने वाले प्रतिक्रमण से हो जाए। यह दो बार का स्नान दोष रूपी मैल को दूर करने का उपक्रम है।

प्रतिक्रमण से अनेक लाभ बताए गए हैं। शास्त्रकार ने पहला लाभ बताया है कि प्रतिक्रमण करने से व्रत के छेदों का पिधान होता है। हम लोग सड़क पर चलते हैं, विहार करते हैं। कहीं-कहीं सड़क पर भी गड्ढे मिलते हैं, सड़क फूटी हुई मिलती है। फिर सरकार या कार्यकर्ता लोग सड़कों के उन गड्ढों को भरने का प्रयास करते हैं, जिससे चलने में कुछ सुविधा हो जाती है। कई बार दांतों में केविटी हो जाती है। दन्त चिकित्सक उसको भी भरता है, ताकि भोजन करने में कोई असुविधा न हो। इस प्रकार भरने की एक प्रक्रिया है। हमारे व्रतों में नियमों में भी दोष लग जाते हैं, दोषों के छिद्र हो जाते हैं। उन छिद्रों को भरना जरूरी है। प्रतिक्रमण के द्वारा दोषों के छिद्रों को भरने का कार्य होता है।

प्रतिक्रमण से दूसरा लाभ बताया गया है कि जब छेद अवरुद्ध हो जाते हैं, तब आश्रव भी निरुद्ध हो जाता है। जैन साधना पद्धति में आश्रव को संसार भ्रमण का हेतु बताया गया है। आश्रव क्या है? कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं। जैसे–मिथ्या दृष्टिकोण, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग, हिंसा, झूठ, चोरी आदि सब आश्रव के द्वार हैं। इनसे पाप कर्मों का बन्ध होता है। योग आश्रव शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। अच्छा कार्य करने से पुण्य यानी शुभ कर्म का बंध होता है और गलत कार्य करने से अथवा पापों के सेवन से पाप यानी अशुभ कर्म का बंध होता है। व्रतों के छेदों को भर देने से आश्रव निरूद्ध होता है और दोषों का शुद्धिकरण होता है। चाहे कुछ अंशों में ही हो पर पाप आने का रास्ता बंध हो जाता है।

प्रतिक्रमण से तीसरा लाभ बताया गया है कि चारित्र के धब्बे मिट जाते हैं। दोषों के सेवन से हमारी जो चारित्र रूपी पछेवड़ी है, चारित्र रूपी कपड़ा है, उसमें धब्बे लग जाते हैं। प्रतिक्रमण करने से उन धब्बों का सफाया हो जाता है। चारित्र रूपी पछेवड़ी अथवा कपड़ा पुनः निर्मल हो जाता है।

प्रतिक्रमण से चौथा लाभ बताया गया है कि ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियों और मन, वचन आदि गुप्तियों में साधक पुनः जागरूक बन जाता है। पांचवां लाभ बताया गया है कि प्रतिक्रमण करने से संयम में एकरसता आ जाती है, लीनता आ जाती है। छठा लाभ बताया गया है कि प्रतिक्रमण करने से चित्त-समाधि पैदा होती है। बार-बार दोष सेवन करने से चित्त असमाधिस्थ हो जाता है। प्रतिक्रमण कर लेने से चित्त शांत हो जाता है। फिर साधक शांति से विहार करता है, शांति से जीवन-यापन करता है। इसलिए एक साधु के लिए तो प्रतिक्रमण करना आवश्यक है ही, किन्तु एक गृहस्थ या श्रावक को भी यह चिन्तन करना चाहिए कि मेरे जीवन में कहीं कोई विशेष पाप तो नहीं हो रहा है अथवा कोई विशेष दोष लगा हुआ है तो मैं उससे निवृत्त हो जाऊं, उसकी शुद्धि करने का प्रयास करूं। यह दोष-विशुद्धि केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सरकार को भी यह सोचना चाहिए कि शासन में कहीं कोई गलत काम तो नहीं हो रहा है। यदि कहीं कोई गलत काम हुआ है अथवा हो रहा है तो तत्काल उस पर ध्यान दिया जाए ताकि शासन अच्छा चले, राज्य अच्छा बन सके। एक राजा अपने पड़ौसी राजा के पास मिलने के लिए आया। दोनों के

बीच वार्तालाप का क्रम शुरु हुआ। मेहमान राजा ने मेजबान राजा से कहा—मैंने सुना है, आपके राज्य में अच्छी व्यवस्थाएं है। मैं उनका अवलोकन करना चाहता हूं। मेजबान राजा ने अनेक वस्तुएं दिखाईं, अनेक जानकारियां दीं।

मेहमान राजा बोला—आपके राज्य में बड़ी शांति है, प्रजा बहुत खुश है, प्रसन्न है, इसका रहस्य क्या है?

मेजबान सम्राट ने कहा—मैंने अपने राज्य में चारों दिशाओं में चार द्वारपाल नियुक्त कर रखे हैं। उनकी बदौलत ही मेरे राज्य में शांति है, समृद्धि है और लोग खुश हैं। वे द्वारपाल बड़े जागरूक हैं।

पहला द्वारपाल है—न्याय। मैं न्याय के आधार पर चलता हूं। किसी के साथ अन्याय न हो, इस बात के प्रति जागरूक रहता हूं। निर्दोष व्यक्ति को दण्डित न किया जाए और दोषी व्यक्ति को छोड़ा न जाए, इस बात के प्रति भी जागरूक रहता हूं। आदमी को न्याय का पथ नहीं छोडना चाहिए। भले कोई निन्दा करे, स्तवना करे, लक्ष्मी आए या जाए, मौत चाहे जल्दी आए अथवा लम्बे काल तक जीने का मौका मिले परन्तु धीर पुरूष न्याय मार्ग से एक कदम भी चलित नहीं होते। मेजबान राजा ने आगे कहा—जनता में यह विश्वास है कि हमारे सम्राट किसी के साथ अन्याय नहीं करते और किसी को अन्याय करने भी नहीं देते। हमारे यहां न्यायपूर्ण शासन चलता है।

दूसरा द्वारपाल है—सत्य। हमारे राज्य में ईमानदारी को बहुत महत्त्व दिया गया है। कोई भी व्यापारी और कोई भी कर्मचारी बेईमानी नहीं करता। कोई व्यक्ति अपने प्रतिष्ठान को खुला छोड़ दे तो भी उसे किसी प्रकार का भय नहीं सताता क्योंकि कोई चोरी नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है। हमारे यहां सचाई, ईमानदारी का प्रशिक्षण दिया जाता है। आमतौर से हर आदमी ईमानदार/प्रामाणिक है इसलिए राज्य में शान्ति रहती है।

तीसरा द्वारपाल है—प्रेम। हमारे राज्य में सभी को प्रेम का प्रशिक्षण दिया जाता है। अहिंसापूर्ण व्यवहार कैसे किया जाता है? प्रेमपूर्ण व्यवहार कैसे किया जाता है? जनता को यह ट्रेनिंग दी जाती है। यह भी बताया जाता है कि चाहे कोई किसी जाति का हो, किसी सम्प्रदाय का अनुयायी हो, सब आपस में प्रेम से रहो, भाईचारे के साथ रहो। हमारे यहां प्रेम का वातावरण है इसलिए हमारे राज्य में शान्ति है।

चौथा द्वारपाल है—त्याग। हमारे यहां त्याग का मूल्य है। जनता में त्याग वृत्ति है। छोड़ने की कामना है, विसर्जन की भावना है। कोई भी धनवान व्यक्ति धन का विसर्जन करने में संकोच नहीं करता। लोगों में त्याग वृत्ति और दान वृत्ति है, जिससे गरीबों को भी सहारा मिल जाता है यानी कहीं पहाड़ नहीं रहता तो कहीं गड्ढा भी नहीं रहता। एकदम समानता न भी रहे किन्तु ज्यादा विषमता भी नहीं रहती। ये चार द्वारपाल हैं। मेहमान राजा को बोधपाठ मिल गया। उसने सोचा, जिन द्वारपालों से राज्य में शांति और समृद्धि है उनको मुझे भी अपने राज्य में स्थापित करना चाहिए। ताकि मेरे राज्य में भी शांति की स्थापना हो सके। कहने का तात्पर्य है कि कहीं कोई दोष या गलतियां होती हैं तो उसका प्रतिकार भी किया जाता है, शुद्धि की जाती है। प्रतिक्रमण का भी यही कार्य है। कोई दोष लग जाता है तो उसकी शुद्धि हो जाती है। प्रतिक्रमण नहीं होता है तो दोषों का शोधन भी नहीं होता है। दोष की शुद्धि न होने से साधक की अगली गति भी खराब हो जाती है। अतः प्रतिक्रमण करना अत्यावश्यक है। जिससे आदमी शान्ति के साथ रह सकता है और चेतना की निर्मलता का विकास कर सकता है।

१२

कायोत्सर्ग से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ।** कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान के दोषों की शुद्धि हो जाती है। आदमी का हृदय हल्का और निर्मल बन जाता है। जैसे भारवाही का भार उतार दिए जाने पर उसे सुखानुभूति होती है, आराम मिलता है, उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने से आराम मिलता है, अध्यवसाय प्रशस्त बन जाते हैं। प्रशस्त विचारधारा बन जाने से आदमी सुखपूर्वक विहार करने लगता है।

जैन साधना पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है—कायोत्सर्ग। यह साधना का एक प्रयोग भी है। ध्यान करते समय सबसे पहले कायोत्सर्ग कराया जाता है। उसके बाद विशेष प्रयोग कराए जाते हैं। शब्द की दृष्टि से विचार किया जाए तो काय+उत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग। काय यानी शरीर और उत्सर्ग यानी छोड़ना, शरीर को छोड़ना। शरीर तो मृत्यु के साथ छूटता है फिर कायोत्सर्ग करते समय शरीर को कैसे छोड़ा जाए? यहां शरीर को छोड़ने का मतलब है शरीर की चंचलता को छोड़ना, शरीर के तनाव को छोड़ना और आगे चलकर शरीर के ममत्व को छोड़ना, देहाध्यास को छोड़ना, यह कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग बंधन मुक्ति की साधना का एक प्रयोग है।

कायोत्सर्ग में ऑटो सजेशन के द्वारा शरीर के अवयवों को शिथिल होने का सुझाव दिया जाता है और शारीरिक शिथिलता को निष्पन्न किया जाता है। शरीर की स्थिरता और शिथिलता भी अपने आपमें एक साधना है। आगे और विकास होने पर ममत्व-मुक्ति का भी अभ्यास सिद्ध हो सकता है।

किसी गांव में एक महात्माजी आए। वे प्रतिदिन कथावाचन करते, प्रवचन करते और लोगों की जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास करते। काफी लोग उनकी कथा आदि का श्रवण करने के लिए उपस्थित होते। उस गांव में एक नगरसेठ रहता था। वह एक दिन महात्माजी का प्रवचन सुनने के लिए जाने की तैयारी कर रहा था। उसने एक तोता पाल रखा था। वह तोता कुछ-कुछ आदमी की भाषा भी बोलता था।

तोते ने पूछा—मालिक! आज आप कहां जा रहे हैं?

सेठ ने कहा—हमारे गांव में एक महात्माजी आए हुए हैं। वे बड़े विद्वान हैं, योगीराज हैं। मैं उनकी कथा सुनने के लिए जा रहा हूं।

तोते ने कहा—मालिक! आप जा ही रहे हैं तो मेरा एक प्रश्न पूछना कि बन्धन मुक्ति कैसे मिलेगी? सेठ प्रवचन सभा में उपस्थित हुआ। प्रवचन समाप्ति के बाद प्रश्नोत्तर का क्रम शुरु हुआ। सबसे पहले सेठ महात्माजी के पास गया और निवेदन किया—महात्मन्! मेरे तोते ने एक प्रश्न पूछा है कि बन्धन-मुक्ति कैसे मिल सकती है? ज्योंही प्रश्न पूरा हुआ, बाबाजी पट्ट पर ही गिर गए, एकदम शिथिल हो गए। लोग एकत्रित हो गए। डॉक्टर को बुलाया गया। सेठ ने सोचा, यह सारी बात मेरे ऊपर आएगी। लोग कहेंगे कि अमुक सेठ ने सवाल पूछा था तब बाबाजी की ऐसी हालत हो गई। सेठ तो तत्काल वहां से रवाना हो गया। कुछ ही देर में महात्माजी सामान्य हो गए। वापिस बैठने की मुद्रा में आ गए। सेठ ज्योंही घर पहुंचा, तोता बोला—मालिक! आपने मेरा सवाल पूछा या नहीं? सेठ ने कहा—तुमने कैसा खराब सवाल पूछ लिया। आज तो मैं बच गया वरना लोग मुझे मार देते। जब तुम्हारा सवाल मैंने बाबाजी से पूछा, पूछते ही वे वहीं गिर गए। मैं तत्काल घर आ गया। मुझे उत्तर कुछ भी नहीं मिला। सेठ उस रहस्य को नहीं पकड़ सका। कई बार आदमी जो प्राप्त नहीं कर सकता वह ज्ञान अथवा चीज एक पशु-पक्षी या सामान्य प्राणी प्राप्त कर लेता है। तोते ने उस रहस्य को पकड़ लिया। कुछ

दिनों बाद एक दिन सवेरे सेठ ने देखा कि पिंजरे में तोता तो मरा हुआ पड़ा है। सेठ ने पिंजरे का ढक्कन खोला और घर से बाहर उस तोते को रख दिया। तोता तत्काल आकाश में उड़ गया।

सेठ ने कहा—अरे! तुम जीवित हो क्या? यह तुमने क्या किया?

तोते ने कहा—मुझे तो बाबाजी ने बचा लिया। बाबाजी ने मेरे प्रश्न का जवाब बोलकर नहीं दिया, प्रेक्टिकल रूप में दिया था। उन्होंने बताया कि कायोत्सर्ग कर लो, शरीर को निश्चेष्ट बना लो, तुम्हें मुक्ति मिल जाएगी। मैंने कायोत्सर्ग का प्रयोग किया, शरीर को निष्क्रिय किया और मुझे मुक्ति मिल गई। अब मैं खुले आकाश में उड़ान भरूंगा।

यह एक कथानक हो सकता है परन्तु इसमें एक मर्म है। उस मर्म को समझने का प्रयास करना चाहिए। यह शरीर एक पिंजरा है। उसमें आत्मा रूपी तोता/पंछी बैठा है। शरीर एक बन्धन है। उस बन्धन में पंछी बंधा हुआ है। उस पंछी को शरीर के बन्धन से निकालने का एक उपाय है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर के प्रति आसक्ति और ममत्व को छोड़ा जाए, साधना की जाए तो मुक्तिश्री का वरण हो सकता है।

स्थूल शरीर का बंधन तो छोटा बंधन है। उससे भी बड़ा बंधन है कार्मण शरीर का। राग-द्वेष से निष्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मों से आत्मा बंधी हुई है। उस बंधन से आत्मा को मुक्त कराने के लिए साधना की अपेक्षा है। कायोत्सर्ग साधना का वह प्रयोग है जिसके द्वारा उस कर्म शरीर के बंधन को भी शिथिल किया जा सकता है और चेतना को बंधन मुक्त बनाया जा सकता है।

१३

प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया–**पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया–**पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरूंभइ।** प्रत्याख्यान से वह आश्रव-द्वारों (कर्म-बन्धन के हेतुओं) का निरोध करता है।

जैन साधना पद्धति में आश्रव शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण और मीमांसनीय है। नव तत्त्वों में आश्रव पांचवां तत्त्व है। यह कर्मों के आगमन के लिए एक प्रकार का नाला है। जैसे, नाले में से पानी तालाब में चला जाता है या कुण्ड में चला जाता है, वैसे ही कर्म भी इस आश्रव रूपी नाले में से आत्मा के चिपक जाते हैं। आदमी किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है। शुद्ध अथवा अशुद्ध चिन्तन करता है, बोलता है, शारीरिक चेष्टाएं करता है, भावात्मक प्रवृत्ति करता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के चिपक जाते हैं। किस कर्म का फल क्या और कब मिलेगा? आदि का अपना नियम होता है। मानो कोई ऑटोमेटिक व्यवस्था भीतर में की हुई है। जैसे कोई व्यक्ति भाषण देता है। उसकी रिकॉर्डिंग कर ली जाती है। वापिस उस भाषण को हूबहू सुना जा सकता है। वैसे ही हम कल्पना करें–कोई व्यक्ति हमारे भीतर बैठा हुआ है। वह बड़ा जागरूक है। हम क्या-क्या कर रहे हैं, इसकी बड़ी निगरानी रखता है और जो भी काम करते हैं, तत्काल मानो नोटिंग करता रहता है। इस बात के प्रति सावधान रहता है कि इस आदमी ने क्या-क्या काम किया, क्या विचार किया और इसको क्या फल

मिलना चाहिए? यह मैंने स्थूल उदाहरण दिया है। वस्तुतः सारा काम ऑटोमेटिक हो रहा है। जो व्यक्ति जैसा कार्य करता है, उसको वैसा फल मिल जाता है। यह आश्रव उन कर्मों के आगमन का द्वार है।

उदाहरण के लिए देखें—एक आदमी चोरी करता है। उसके पाप कर्मों का आश्रवण होता है। आदमी के भीतर राग-द्वेष के संस्कार हैं। इन संस्कारों के कारण आदमी अशुभ प्रवृत्ति भी कर लेता है। वह अशुभ प्रवृत्ति आदमी के पापकर्म-बंध का कारण बन जाती है। जब व्यक्ति कोई अच्छा कार्य करता है, शास्त्र आदि का स्वाध्याय करता है तो उससे कर्मों का निर्जरण और साथ में पुण्यकर्म का बंध होता है।

प्रत्याख्यान क्या है? प्रत्याख्यान का मतलब है—छोड़ना, त्याग करना। त्याग करने से आश्रवद्वार निरुद्ध होते हैं। एक व्यक्ति साधु बनता है। वह यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता है। इसका मतलब यह हुआ कि उसने अव्रत आश्रव का निरोध कर दिया है। अब एक प्रकार से वह एक सीमा में बंध गया कि न उसे कभी हिंसा करनी है, न कभी झूठ बोलना है, न चोरी करनी है, न अब्रह्मचर्य का सेवन करना है और न परिग्रह रखना है। इन सब बातों का वह प्रत्याख्यान कर देता है। उसके भीतर इस प्रकार की चेतना का निर्माण हो जाता है कि मुझे अमुक अमुक कार्य नहीं करने हैं। मैंने राग-द्वेष की प्रवृत्ति का त्याग कर दिया है। यद्यपि राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति हो सकती थी किन्तु प्रत्याख्यान करने से उसका निरोध हो गया। उससे बंधने वाले पापकर्म का भी निरोध हो गया। पापकर्म के आगमन का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया।

प्रत्याख्यान करने से लाभ क्या है? प्रत्याख्यान करने से आश्रव का निरोध हो जाता है। आश्रव के निरुद्ध होने से संवर निष्पन्न हो जाता है। एक साधु तो अव्रत आश्रव का निरोध करता ही है। एक गृहस्थ को भी अपने जीवन में प्रत्याख्यान की चेतना को जगाने का प्रयास करना चाहिए। जितना-जितना त्याग, संयम बढ़ता है, उतना-उतना आदमी आत्मिक निर्मलता को भी प्राप्त करता है। छोटे-छोटे नियमों से त्याग की चेतना को विकसित किया जा सकता है। श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।

धर्म का थोड़ा अंश भी जीवन में आता है तो वह भी मानव को महान भय से उबारने वाला होता है। गीता के इस उद्घोष को यों भी कहा जा सकता है कि व्रत का एक अणु या एक अंश भी स्वीकार किया जाता है तो वह आदमी को महान भय से उबारने वाला होता है। आदमी यह चिन्तन करे कि मैं असंयम से कितना निवृत्त हो सकता हूं? मेरा असंयम से संयम की ओर प्रयाण हो।

गृहस्थों में भी अनेक गृहस्थ ऐसे मिल सकते हैं जिनके जीवन में त्याग है, संयम है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तो यहां तक कहा गया है—कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। वैसे तो साधु गृहस्थों से बड़े होते ही हैं। सामान्यतया देशव्रती श्रावक सर्वव्रती साधु की बराबरी नहीं कर सकता किन्तु नामधारी साधु श्रावक की आंशिक तुलना में भी नहीं आ सकता।

एक गृहस्थ यह संकल्प करता है कि मैं कभी चोरी नहीं करूंगा। इसका मतलब यह हुआ कि वह चोरी का प्रत्याख्यान करता है। एक व्यक्ति यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं कभी गुस्सा नहीं करूंगा, नशा नहीं करूंगा आदि। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह संयम की ओर आगे बढ़ता है। प्रत्याख्यान जहां चेतना को निर्मल बनाता है वहीं व्यावहारिक दृष्टि से भी आदमी को उन्नति की ओर ले जा सकता है।

एक गांव में महात्माजी का आगमन हुआ। महात्माजी ने कथा वाचन किया। तदुपरान्त सम्मुखीन श्रोताओं से आह्वान किया—क्या आप लोग कोई नियम स्वीकार करेंगे? अनेक लोगों ने नशा न करने का संकल्प किया। एक युवक ने कहा—बाबाजी! मैं शराब नहीं छोड़ सकता। चोरी करना तो मेरा धन्धा है, उसको भी मैं नहीं छोड़ सकता। अब कौनसा संकल्प करूं?

सन्त ने पूछा—क्या तुम झूठ बोलना छोड़ सकते हो?

युवक—यह मुझे मंजूर है। मैं कभी असत्य नहीं बोलूंगा।

उस युवक ने बाबाजी से झूठ बोलने का प्रत्याख्यान ले लिया। एक दिन वह राजमहल में चोरी करने जा रहा था। संयोग की बात, वहां का राजा वेश परिवर्तन कर अपने नगर की स्थिति जानने के लिए रात्रि में घूम रहा था। राजा और चोर दोनों आपस में मिले।

राजा ने पुछा—तुम कौन हो?

युवक—मैं चोर हूं।

राजा—कहां जा रहे हो?

युवक—राजमहल में।

राजा ने सोचा—कोई अविकसित दिमाग वाला व्यक्ति लगता है तभी अपने आपको चोर और राजमहल में चोरी करने की बात बता रहा है। फिर भी राजा ने उसका नाम आदि पूछा और आगे बढ़ गया। चोर भी आगे बढ़ गया। चोर का भी अपना भाग्य था। राजमहल में सब पहरेदार खर्राटे भर रहे थे। उसे अन्दर जाने का अच्छा मौका मिल गया। वह भंडार तक पहुंच गया। भंडार में उसने देखा कि एक डिबिया है। उस डिबिया में चार हीरे रखे हुए हैं। हालांकि वह चोर था। फिर भी उसमें कुछ मानवता थी। उसने सोचा—चारों हीरे मैं नहीं लूंगा। एक हीरा राजा के लिए छोड़ दूंगा, शेष तीन हीरे मैं ले जाऊंगा। चोर तीन हीरे लेकर वापस आ रहा था। संयोगवश पुनः राजा से भेंट हो गई।

राजा ने पूछा—क्या राजमहल में चोरी करके आ गया?

युवक—हां।

राजा—क्या चोरी की?

युवक—तीन हीरे चुराए हैं। इस प्रकार बोलता-बोलता वह दौड़ गया। राजा ने सोचा—यह अवश्य ही कोई पागल आदमी है। राजा अपने महल में आ गया। प्रातःकाल राजा को सूचना मिली कि रात्रि में राजमहल में चोरी हो गई। भंडार के ताले टूट गए।

भंडारी ने कहा—महाराज! अभी कुछ दिनों पहले चार हीरे खरीदे थे। वे बहुत कीमती थे। उन चारों हीरों की चोरी हो गई। यह बात सुनते ही राजा को याद आया कि रात्रि में मुझे एक युवक मिला था और वह हीरे चुराने की बात भी कह रहा था। चूंकि राजा के पास उसका एड्रेस था। इसलिए राजपुरुषों को भेजकर उसको बुला लिया गया। चोर आ गया।

राजा ने पूछा—तुमने महल में चोरी की थी?

चोर—हां की थी।

राजा—क्या चुराया तुमने?

चोर—मैंने तीन हीरे लिए हैं। अब राजा को विश्वास हो गया कि यह

व्यक्ति झूठ तो नहीं बोलता। किन्तु भंडारी कह रहा है कि चार हीरे गायब हैं और यह कह रहा है कि मैंने तीन हीरे लिए हैं तो फिर एक हीरा कहां गया? राजा ने भंडारी से पूछा—चौथा हीरा कहां गया?

भंडारी—राजन्! इसी ने लिया होगा।

राजा—यह व्यक्ति झूठ नहीं बोलता। तुम सही-सही बात बताओ। आखिर भंडारी को कहना पड़ा—राजन्! एक हीरा तो मैंने ले लिया।

राजा—अरे! तुमने ले लिया। मैंने तुम पर कितना विश्वास किया। तुम्हें भंडार की रक्षा का दायित्व सौंपा और तुमने चोरी की, फिर झूठ भी बोले। राजा ने तत्काल भंडारी को नौकरी से बर्खास्त कर दिया और चोर से पूछा—तुमने चोरी का रास्ता क्यों अपनाया?

चोर—अभाव के कारण मुझे यह धंधा स्वीकार करना पड़ा। यदि आप मेरे परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था कर देते हैं तो फिर मैं कभी चोरी नहीं करूंगा।

राजा ने तत्काल उसे भंडार की सुरक्षा का दायित्व सौंप दिया। जो व्यक्ति चोर के रूप में अपराधी था, वह राजा का विश्वास पात्र बन गया। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि उसमें प्रत्याख्यान की चेतना जागृत थी। उसने झूठ न बोलने का नियम ले रखा था। इस नियम ने उसकी आत्मा को निर्मल बना दिया, चेतना को उन्नत बना दिया।

गार्हस्थ्य में रहते हुए गृहस्थ लोग भी यह चिन्तन करें कि हमारे जीवन में प्रत्याख्यान की चेतना है या नहीं? जितना संभव हो, प्रत्याख्यान की चेतना को विकसित करने का प्रयास करें। जिससे यहां भी शांति और आगे भी सद्गति मिलने की संभावना बन सके। क्योंकि हमारी अगली गति का निर्धारण हमारे कर्मों के आधार पर होता है। अगर जीवन में सत्कर्म हैं तो अगली गति अच्छी हो सकती है और जीवन में दुष्कर्म हैं तो अगली गति खराब हो सकती है। हमें वर्तमान को देखना चाहिए किन्तु मेरा चिन्तन है कि भविष्य के संदर्भ में वर्तमान का ध्यान रखना चाहिए। एक नास्तिक व्यक्ति मात्र वर्तमान के लिए ही वर्तमान का ध्यान रखता है जबकि एक आस्तिक व्यक्ति भविष्य के लिए भी वर्तमान के प्रति जागरूक रहता है। हमारे वर्तमान का तो छोटा सा काल है, मान लो ७० वर्ष, ८० वर्ष, ९० वर्ष, १०० वर्ष, आखिर कितने वर्ष आएंगे?

परन्तु आगे अनन्त काल है। हमें उसकी ओर भी ध्यान देना चाहिए। क्योंकि भविष्य का निर्धारण वर्तमान के कर्मों के आधार पर होता है। इसलिए भविष्य को अच्छा बनाने के लिए वर्तमान को अच्छा बनाना चाहिए। वर्तमान अच्छा है तो फ्यूचर भी अच्छा होगा। वर्तमान वास्तव में प्रजेंट बने, उपहार बने, न कि भार बने। अगर वर्तमान में, प्रजेंट में गलत काम करते हैं तो वह हमारे लिए भार है, मानो उसको धिक्कार है। अगर प्रजेंट में अच्छा काम करेंगे तो वास्तव में वह हमारे लिए उपहार बन जाएगा।

बालक, युवा और वृद्ध सभी में प्रत्याख्यान की चेतना का विकास होना चाहिए। अवस्था प्राप्त व्यक्तियों में तो विशेष रूप से त्याग, संयम की भावना जागृत होनी चाहिए। क्योंकि वे घर के काम धंधे से कुछ अधिक निवृत्त हो सकते हैं। एक युवक को भी यह चिन्तन करना चाहिए कि प्रत्याख्यान की चेतना का विकास कैसे किया जा सकता है और जितना संभव हो, प्रत्याख्यान करना चाहिए। एक बच्चे में भी ये संस्कार जागृत हों। वे संकल्प करें कि हम कभी नशा नहीं करेंगे, कभी गुस्सा नहीं करेंगे, कभी चोरी नहीं करेंगे, झूठ बोलने से बचने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार सबमें प्रत्याख्यान की चेतना जाग जाए और वह स्थायी बन जाए तो सबका जीवन अच्छा हो सकता है।

१४

स्तव और स्तुति से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**थवथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** स्तव व स्तुति रूप मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**थवथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्त-बोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ।** स्तव और स्तुति रूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधि-लाभ से संपन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

अनेक प्रकार के मंगल होते हैं। संसार में पदार्थों को भी मंगल के रूप में स्वीकार किया गया है। विद्या के लिए प्रस्थान करते समय, प्रवेश के समय, कुछ मंगल ग्रहण किया जाता है। गुड़ आदि पदार्थ मंगल के रूप में लिए जाते हैं। स्तवना, स्तुति को भी मंगल माना गया है। भारत में तो यह संस्कृति रही है और आज भी है कि भगवान की भक्ति, पूजा, आरती और स्तुति की जाती है। स्तुति, भजन आदि के द्वारा आदमी को तृप्ति भी मिलती है। हालांकि यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्तुति अथवा भक्ति के साथ निष्कामता है या सकामता? बहुधा आदमी कोई कामना के साथ स्तुति करता है। मुझे संतान मिल जाए। मुझे पैसा मिल जाए। मैं चुनाव में जीत जाऊं। इस प्रकार की अनेक कामनाएं आदमी के मन में होती हैं और इन कामनाओं के आधार पर वह

भगवान की भक्ति करता है। वह कभी-कभी भक्ति के माध्यम से भगवान को भी धोखा दे देता है।

एक आदमी व्यापार करता था। उसके सामने बड़ा संकट आ गया। उसने अपने इष्ट देवता को याद किया और मन ही मन निवेदन किया कि हे प्रभो! मुझे इस संकट से उबार लो। यदि मैं इस संकट से बच जाऊंगा तो पांच किलो की सीरणी (प्रसाद) चढ़ा दूंगा। संयोग की बात थी अथवा दिव्य शक्ति ने सहयोग किया होगा। वह संकट से मुक्त हो गया। वह बाजार में गया और देखा कि केले बहुत अच्छे और पके हुए हैं। उसने पांच किलो केले खरीदे और भगवान के मन्दिर में गया। वहां जाकर केलों के छिलके उतारे और सारे छिलके भगवान के चरणों में चढ़ा दिए और मूल केले लेकर घर आ गया। परिवार के सब सदस्यों ने मिलकर सारे केले खा लिए। कुछ समय बीता। फिर एक बार वह संकट से घिर गया। उसने पुनः अपने इष्ट देवता का स्मरण किया और कहा—मैं बड़ा दुःखी हूं। मेरी सहायता करो। उसने इस बार भी संकल्प किया कि यदि मैं अमुक समस्या से मुक्त हो जाऊंगा तो पांच किलो का प्रसाद चढ़ाऊंगा। संयोगवश वह फिर बच गया। वह पुनः बाजार में गया और देखा कि खजूर बहुत बढ़िया आए हुए हैं। उसने पांच किलो खजूर खरीदे और मन्दिर में पहुंच गया, बोला—भगवन्! पिछली बार तो ऊपर का भाग चढ़ाया था, इस बार अन्दर का भाग चढ़ाऊंगा। यों कहते-कहते उसने सारी गुठलियां मन्दिर में चढ़ा दीं और खजूर लेकर घर आ गया। इस प्रकार के चुटकले/कहानियां इस बात को द्योतित करती हैं कि आदमी का स्वभाव कई बार विकृत हो जाता है और वह कभी-कभी भगवान के साथ भी धोखा कर लेता है।

मैंने कामनाओं को तीन भागों में विभक्त किया है—१. अधम कामना २. मध्यम कामना ३. उत्तम कामना।

अधम कामना

अधम कोटि की कामना वह होती है, जिसमें आदमी दूसरे का अनिष्ट चाहता है। वह सोचता है, सामने वाले का बुरा हो जाए, व्यापार ठप्प हो जाए, स्वास्थ्य खराब हो जाए, जल्दी मृत्यु हो जाए, काम बिगड़ जाए आदि। इस प्रकार की अनिष्ट कामना आदमी कर लेता है। यदा कदा सुनने में आता है कि

कुछ पैसे के लालच में कुछ लोग तंत्र आदि के माध्यम से, तांत्रिक प्रयोगों से दूसरों का नुकसान करते हैं।

दो महिलाएं पास-पास में रहती थीं। दोनों में ईर्ष्याभाव था। एक दिन दोनों देवी के मंदिर में गईं और भक्ति करने लगीं। भक्ति के साथ याचना जुड़ी हुई थी। देवी प्रकट हुई और बोली—मांगो, क्या चाहिए तुम्हें?

एक महिला ने कहा—हे जगदम्बे माता! मेरी सामने वाली बहन को जो कुछ दो, उसका दुगुना मुझे दे देना।

यह बात सुनते ही उस दूसरी महिला ने सोचा, आज इसको मजा चखाना चाहिए।

उसने कहा—हे जगदम्बे माता! मेरी एक आंख फोड़ दो। जैसे ही एक आंख फूटी, उस पहली महिला की दोनों आंखें चली गईं। यह अधम कामना है।

मध्यम कामना

मध्यम कोटि की कामना वह होती है, जिसमें आदमी न तो किसी दूसरे का नुकसान करता है और न ही कोई परोपकार जैसी बात होती है। वह कामना करता है कि मुझे पैसा मिल जाए। मुझे संतान मिल जाए। मेरी पदोन्नति हो जाए। मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहे। मुझे सुख-सुविधाएं मिल जाए आदि।

उत्तम कामना

उत्तम कोटि की कामना में आदमी यह चाहता है कि मुझे प्रभो के दर्शन हो जाएं। मैं भगवान की भक्ति करता रहूं, जनता का भला करता रहूं, दूसरों की सेवा करता रहूं। मेरे राग-द्वेष क्षीण हो जाएं। मेरा स्वभाव अच्छा रहे। इस प्रकार की कामना करना उत्तम कोटि की कामना होती है।

आदमी उत्तम कोटि की कामना करे। मध्यम कोटि की कामना को भी छोड़ सके तो अच्छी बात है किन्तु अधम कोटि की कामना तो करे ही नहीं। किसी दूसरे का नुकसान हो, अनिष्ट हो, ऐसी भावना न करे। सभी का मंगल हो, यह कामना करे।

शास्त्रकार ने कहा कि स्तव व स्तुति रूप मंगल से क्या मिलता है? स्तव और स्तुति ये दो शब्द हैं। जो भक्ति का छोटा रूप है, वह स्तोत्र है,

स्तुति है। जो भक्ति का बड़ा रूप है, वह स्तव कहलाता है। अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियां की जाती हैं, जैसे—हनुमान चालीसा आदि। जैन परम्परा में भगवान आदिनाथ की स्तुति 'भक्तामर' नामक स्तोत्र में की गई है। यह चवालीस अथवा अड़तालीस संस्कृत श्लोकों वाला सुन्दर ग्रंथ है। 'कल्याण-मन्दिर' स्तोत्र नामक ग्रंथ, जो भगवान पार्श्व की स्तुति में रचित है, संस्कृत भाषा का बड़ा सुन्दर ग्रंथ है। 'उपसर्गहर स्तोत्र' भी भगवान पार्श्व के साथ जुड़ा हुआ है। कई अष्टक भी निर्मित हैं, जैसे—महावीर अष्टक, भिक्षु अष्टक, तुलसी अष्टक, महाप्रज्ञ अष्टक आदि। इनमें आठ-आठ श्लोकों के माध्यम से इष्ट की भक्ति की गई है, स्तुति की गई है।

यदि तन्मयता के साथ भक्ति की जाए तो वह भी एक मंगल रूप है। तीन मंगल माने गए हैं—आदि मंगल, मध्य मंगल और अन्त मंगल। जैसे, किसी ग्रंथ की आदि में जो मंगल श्लोक आदि बनाए जाते हैं, वे आदि मंगल होते हैं। ग्रंथ के अन्त में जो स्तुति परक श्लोक होते हैं, वे अन्त मंगल होते हैं, और बीच में जो मंगल श्लोक आदि आता है वह मध्य मंगल होता है। आदमी का जीवन भी एक प्रकार का ग्रंथ है। उसकी आदि में भी मंगल रहे, बीच में भी मंगल रहे और अन्त में भी मंगल रहे। आदि मंगल अर्थात् बच्चा जन्म ले, तब भी खूब अच्छी अनुकूलता हो, अच्छा वातावरण हो। फिर जीवन काल में वह अच्छा जीवन जीए, किसी का बुरा न करे, सबका भला करे, परोपकार करे, धार्मिकता का जीवन जीए, यह जीवन का मध्य मंगल हो गया। जब यह लगे कि जीवन का अंतिम समय आ गया, तब खूब संयम की साधना करे, भोजन को भी छोड़ दे। जैन परम्परा में इसे अनशन कहा गया है। आदमी अनशन को स्वीकार कर आत्मलीन बन जाए, धर्ममय बन जाए और उस अवस्था में प्राणों को छोड़े वह अन्त मंगल है। इस प्रकार जीवन के आदि, मध्य और अन्त में भी मंगलमयता बनी रहे।

स्तुति के द्वारा चित्त की निर्मलता बढ़ती है। सूत्रकार ने कहा कि स्तुति करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप बोधि का लाभ होता है। भक्ति का प्रयोग करने से पुराने पाप कर्मों का नाश होता है। जिससे चेतना शुद्ध बनती है और चित्त की शुद्धि होने से सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचार की प्राप्ति संभव हो जाती है। बड़ी स्तुति कोई कर सके या न कर सके किन्तु छोटा-सा मंत्र आदमी स्वीकार कर ले तो भी निर्मलता का, पवित्रता का

विकास हो सकता है। भले कोई राम का नाम ले, कोई महावीर का नाम ले अथवा अन्य किसी महापुरुष का नाम ले, कोई वीतराग का नाम ले, वह छोटा सा नाम भी कल्याण करने वाला हो सकता है। मात्र दो अक्षरों का 'राम' नाम भगवान का प्रतीक है। उसमें भी तल्लीनता आ जाए तो वह शुद्धि का कारण बन जाता है। राम नाम से क्या लाभ है? इस पर जैन रामायण में एक सुन्दर कल्पना की गई है। वहां यह दोहा बताया गया है–

रा उच्चरतां मुंह थकी, पाप पलाई जाय।
मति फिर आवे तेहनी, ममो किवाड़ी थाय।।

जब हम राम बोलते हैं तब दो अक्षरों 'रा' और 'म' का उच्चारण किया जाता है। 'रा' बोलने पर हमारे होठ खुल जाते हैं, मुंह खुल जाता है। फिर जब 'म' बोलते हैं तो होठ चिपक जाते हैं, मुंह बंद हो जाता है। तब प्रश्न किया गया कि ऐसा क्यों होता है? 'रा' बोलते समय तो होठ रूपी द्वार खुल जाते हैं और 'म' बोलते समय होठ रूपी द्वार बंद हो जाते हैं। इसका रहस्य क्या है? यदि मैं शब्द शास्त्र के आधार पर बताऊं तो अक्षरों का अपना नियम है। कौनसा अक्षर कहां से अथवा कैसे उच्चरित होगा, इसका पूरा विधान है। संस्कृत व्याकरण में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है–

अष्टौ स्थानानि वर्णाना-मुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च, नासिकोष्ठौ च तालु च।।

अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह और विसर्ग (:) का संबंध कण्ठ के साथ है। इनका उच्चारण कण्ठ से होता है। इ, च, छ, ज, झ, ञ, श–ये तालु से उच्चरित होते हैं। ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष का स्थान मूर्धन्य माना गया है। ऌ, त, थ, द, ध, न, ल और स का संबंध दांत से है। उ, प, फ, ब, भ, म, का संबंध होठ के साथ है। प्राकृतिक नियम से ही 'र' बोलते समय हमारे होठ खुलते हैं और प्राकृतिक नियम के आधार पर ही 'म' के उच्चारण के समय होठ बंद हो जाते हैं। कवि ने बड़ी मार्मिक कल्पना की है–'रा' बोलते समय होठ इसलिए खुलते हैं कि हमारे भीतर का पाप बाहर निकल जाए। फिर प्रश्न हुआ कि 'म' बोलते समय होठ पुनः बंद क्यों हो जाते हैं? कवि ने सुन्दर समाधान दिया कि जो पाप बाहर निकला है, वह कहीं वापस अन्दर न आ जाए इसलिए होठ बंद हो जाते हैं। हम जिस किसी का नाम लें, उसके साथ हमारे विकार दूर हों, ऐसा प्रयास करना चाहिए। यह भक्ति का सुन्दर प्रयोग है।

भक्ति मात्र शब्दों में ही न हो, अन्तर मन में भी भक्ति होनी चाहिए।

एक बार रामचन्द्रजी जा रहे थे। रास्ते में नदी आ गई। नदी को पार करने के लिए नौका की अपेक्षा थी।

केवट से कहा—हमें नौका में बिठाकर नदी के उस पार पहुंचा दो।

केवट ने कहा—रामचन्द्रजी! मैं आपको अपनी नोका में नहीं बिठा सकता।

रामचन्द्रजी—क्यों, ऐसी क्या बात है?

केवट—मैंने सुना है कि आपकी चरण-रज में चमत्कार है, जादू है। आपकी चरणरज से पत्थर भी औरत बन गया, अहिल्या बन गई। आप मेरी नौका में बैठें और नौका कहीं औरत बन गई तो मेरी रोजी रोटी का साधन ही खत्म हो जाएगा। इसलिए मैं आपको नौका में नहीं बिठा सकता। केवट को समझाया गया कि तुम रामचन्द्रजी के पैरों को पानी से साफ कर लो, रजें उतर जाएगी, फिर तुम्हारी नौका औरत नहीं बनेगी। केवट ने वैसा ही किया। रामचन्द्रजी के पैर धोकर उनको अपनी नौका में बिठा लिया और उस किनारे पहुंचा दिया। वहां पहुंचने के बाद रामचन्द्रजी ने नाविक से कहा—भैया! तुम्हारा जितना किराया हो, वह ले लो और अपना हिसाब पूरा कर लो।

केवट बोला—महाराज! आपसे क्या किराया लूंगा? आप भी मल्लाह और मैं भी मल्लाह हूं। हम दोनों एक ही काम करने वाले हैं। केवट ने काव्य की भाषा में सुन्दर अभिव्यक्ति दी—

मल्लाह कभी मल्लाहों से मल्लाही लेते हैं भैया?
मजदूर कभी मजदूरों से मजदूरी लेते हैं भैया?
अपने को ऋणी समझते हो तो ऋण तुम यहीं चुका देना।
मैंने पार किया तुमको, तुम मुझको पार लगा देना।।

केवट ने कहा—प्रभो! मैंने तो आपको नदी से ही पार पहुंचाया है। आप यदि स्वयं को ऋणी मानते हो तो मुझे भवसागर से पार पहुंचा देना। यह भक्ति का प्रयोग है। हमारे मन में अपने आराध्य के प्रति भक्ति हो, वीतराग पुरुष के प्रति भक्ति हो तो वह भक्ति भी कल्याणकारी होती है। भारतीय धार्मिक साहित्य में अथवा उपदेशों में यह कहा जाता है कि सुबह-सुबह भगवान का नाम लिया करो। इस बात को कहने का तात्पर्य यह है कि गार्हस्थ्य में जीने

वाला व्यक्ति प्रायः चौबीस घण्टे सांसारिक कार्यों में लगा रहता है। जब व्यक्ति एक घण्टा अथवा आधा घण्टा भगवान का भजन करेगा तो कम से कम उतने समय तक उसका विषय भोगों से विकर्षण होगा। जो मन संसार की चीजों में लगता है वह भगवान की भक्ति में लगेगा। जिससे संसार से थोड़ा विरत होने का मौका मिलेगा। यह थोड़ी-थोड़ी विरति भी आदमी के चित्त की निर्मलता को बढ़ाने वाली होगी।

अविवेकी लोगों की प्रीति विषय भोगों में होती है। वह प्रीति प्रभु के स्मरण में हो जाए और मन विषय भोगों की ओर न जाए। संसार से मन को मोड़ने के लिए एक सुन्दर आलम्बन दिया गया कि अपने मन को भगवान की स्तुति में लगा दो। आदमी का मन जब भगवान में लगा रहेगा तो वह संसार की विषय वासना से, भोगों से विरत होने लगेगा। संसार में रमने वाला मन प्रभु में रम जाएगा। गोस्वामी तुलसीदासजी को प्रेरणा मिली कि जो मन पत्नि में लगा हुआ है, वह मन अगर भगवान में लग जाता तो कितना कल्याण हो जाता। बस, मन बदल गया। अब वह पत्नि की जगह प्रभु भक्ति में लग गया। डाकू वाल्मिकी को भी एक संन्यासी से प्रेरणा मिली कि तुम इतना पाप करते हो, डाका डालते हो, लोगों को लूटते हो, किसी को मारते हो, जब फल भोगना पड़ेगा तब क्या तुम्हारा परिवार भी सहभागी बनेगा? वह तत्काल घर गया। पूछने पर परिवार के लोगों ने कहा—हम तो माल खाने में सहभागी हैं, मार खाने में नहीं। वाल्मिकी ने सोचा—जिस परिवार के लिए मैं इतना पाप करता हूं वह भी जब मेरे साथ नहीं है तब इतना पाप क्यों करूं? बस, मन बदल गया, प्रभु भक्ति में लग गया और रामायण जैसा ग्रंथ लिख दिया।

आदमी शुद्ध भाव से भक्ति करे, स्तुति करे। स्तुति करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति होती है, चेतना निर्मल बनती है। आदमी मोक्ष-प्राप्ति अथवा वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

१५

काल प्रतिलेखना से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**कालपडिलेहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! काल प्रतिलेखना से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।** काल प्रतिलेखना से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

काल प्रतिलेखना का मतलब है समय की प्रतिलेखना करना, उसको पहचान लेना, समझ लेना। आज तो घड़ियां उपलब्ध हैं। लोगों के हाथों में घड़ी बंधी रहती है। घड़ी के लिए संस्कृत साहित्य में कहा गया—

समयज्ञापकं यन्त्रं नव्यानां हस्तभूषणम्।

यह समय को बताने वाला यंत्र नव जवानों के लिए हाथ का आभूषण-सा बना हुआ है। घड़ी की यह विशेषता है कि यह समय को सूचित करती है। कुछ समय पूर्व तक तो हमारी श्राविकाएं रेत की घड़ी रखा करती थीं। एक मुहूर्त्त का समय जानने में उसका उपयोग होता था। आज तो समय को जानना बहुत आसान हो गया है। रात्रि के अंधेरे में भी समय को जाना जा सकता है। कई घड़ियां रात्रि में दीखने वाली होती हैं। कइयों में लाइट होती है अथवा टॉर्च आदि के प्रकाश से देखी जा सकती है। साधु संस्था में भी समय को जानना आवश्यक होता है। किस समय प्रतिलेखन करना, किस समय स्वाध्याय करना, किस समय प्रतिक्रमण करना आदि साधु चर्या के अनेक अंग है, जिनका निर्वाह करना अनिवार्य होता है और वे समयबद्ध होने चाहिए। प्रश्न हो सकता

है कि समय की पहचान कैसे की जाए? प्राचीनकाल में दिन में सूर्य को देखकर, धूप के आधार पर यह अनुमान लगा लिया जाता था कि इतना समय हो गया है। पूज्य गुरुदेव तुलसी ने एक बार फरमाया था कि पूज्य कालूगणी समय को जानने के लिए अपने शिष्य मुनि शिवराजजी से कहते—शिवराजजी! भक्खर मापो। अर्थात् सूर्य के आधार पर जानकारी करो कि कितना समय हो गया? प्रहर आई या नहीं। इसी प्रकार रात्रि के समय नक्षत्रों को देखकर समय का अनुमान लगाया जाता था। यह अनुमान लगाने का काम कोई कोई मुनि किया करते थे। वे विशिष्ट मुनि कहलाते। काल प्रतिलेखक मुनि का महत्त्व होता था। समय का ज्ञापन देना, समय की सूचना देना एक प्रकार की सेवा होती थी। समय बता देने पर साधु लोग अपने निर्धारित कार्यों में, साधना में लग जाते। समय को जानना भी ज्ञान के द्वारा होता है। जिसको यह ज्ञान हो, अनुभव हो कि कौनसा नक्षत्र कहां और किस स्थिति में होने पर कितना समय होगा, वही व्यक्ति समय का निर्धारण कर सकता है। शास्त्रकार ने कहा कि समय की पहचान अथवा समय का निर्धारण किया जाता है। इस सेवा से भी ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होता है अर्थात् ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म हल्का होता है।

काल का बहुत महत्त्व है। जैन वाङ्मय में कहा गया—**काले कालं समायरे।** जो समय जिस काम का है, उस समय वही काम करना चाहिए। भोजन के समय आदमी भोजन करे, स्वाध्याय के समय स्वाध्याय करे, धर्मोपदेश के समय धर्मोपदेश दे। यह विधा सामान्यतया अच्छी होती है। एक साधु यदि भिक्षा के समय भिक्षा के लिए न जाए, लोगों के भोजन करने के बाद जाए तो उसे क्या मिलेगा? फिर उसके मन में यह विचार आता है कि इस गांव में हमें भिक्षा ही नहीं मिली। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि साधु समय पर भिक्षा के लिए नहीं गए।

उत्तराध्ययन सूत्र के छब्बीसवें अध्ययन में प्राचीन व्यवस्था के आधार पर साधु की सामान्य दिनचर्या प्राप्त होती है। एक दिन में चार प्रहर होते हैं और चार प्रहर की एक रात होती है। एक प्रहर का मतलब है दिन/रात का चौथाई भाग। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया—

पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं।।

दिन के प्रथम प्रहर में साधु को स्वाध्याय करना चाहिए। दूसरे प्रहर में ध्यान यानी अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए जाना अथवा भिक्षाचर्या करनी चाहिए और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय में लग जाना चाहिए। इसी प्रकार रात्रि के चारों प्रहरों के लिए निर्देश दिया गया है—

पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं।।

रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करो। दूसरे प्रहर में अर्थ चिन्तन करो। तीसरे प्रहर में नींद लो और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय में लग जाओ। दिन का तीसरा प्रहर भिक्षा के लिए और रात्रि का तीसरा प्रहर नींद के लिए यानी तीसरा प्रहर दिन में भी शरीर के लिए और रात्रि में भी शरीर के लिए है। शेष छहों प्रहर स्वाध्याय, ध्यान, अर्थ चिन्तन के लिए हैं। इस प्रकार साधनामय जीवन चर्या के लिए काल का ठीक विवेक हो। ज्ञान हो तो आदमी समयबद्ध अपना कार्य कर सकता है। साधु संस्था के लिए तो समय नियोजन की बात है ही, एक सामान्य आदमी के लिए भी समय प्रबंधन अच्छा होना चाहिए। समय का नियोजन इस प्रकार से हो कि उसका ठीक उपयोग हो सके। यदि समय की निर्धारणा न हो तो कई बार समय खाली चला जाता है। आदमी समय का उत्तम उपयोग नहीं कर सकता।

समय प्रबंधन का ध्यान रखने वाला व्यक्ति पांच-पांच मिनिट का भी उपयोग कर लेता है। आदमी दिनचर्या को ठीक बनाने के लिए यह निश्चित करे कि मेरा उठने और सोने का समय कौनसा होना चाहिए? किस समय कौनसा काम करना चाहिए? कब अध्ययन करना? कब जन संपर्क करना? कब व्यवसाय आदि का काम करना? इस प्रकार समय की ठीक निर्धारणा हो जाए, कदाचित् उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। परन्तु सामान्यतया दिनचर्या व्यवस्थित हो तो समय का सदुपयोग और व्यवस्थित उपयोग किया जा सकता है। अंग्रेजी भाषा का एक सुन्दर सूक्त है—Time is Money समय धन है। जैसे एक सामान्य स्थिति वाला आदमी पांच रुपये भी सोच समझकर खर्च करता है। उसके लिए धन का कितना मूल्य होता है। इसी प्रकार समय का मूल्यांकन भी करना चाहिए और समय का व्यय भी सोच सोचकर अच्छे कार्यों में करना चाहिए। संस्कृत साहित्य में एक सुन्दर श्लोक कहा गया है—

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा।।

जो लोग बुद्धिमान हैं, समझदार हैं, उनका समय काव्य की चर्चा, शास्त्र की चर्चा यानी ज्ञानचर्चा और अच्छे कार्यों में व्यतीत होता है। जो लोग नादान/नासमझ हैं, मूर्ख हैं, उनका समय व्यसनों में, नींद में और झगड़े में बीत जाता है। आदमी नादानगी न करे, बड़ी समझदारी के साथ समय का उपयोग करने का प्रयास करे।

एक व्यंग्य में कहा गया—किसी विदेशी व्यक्ति ने यह सुन रखा था कि भारत में ट्रेनें लेट आती हैं। एक बार वह भारत के किसी नगर/गांव में गया और उसने देखा कि जिस ट्रेन का समय सात बजे का था, वह ट्रेन ठीक सात बजे पहुंच गई। उसने कुछ लोगों से कहा कि मैंने तो सुना था कि भारत में ट्रेनें देरी से आती हैं किन्तु आज तो बिलकुल समय पर आ गई। तब उन लोगों ने कहा—महाशय! यह तो कल वाली ट्रेन आई है। यह पूरे चौबीस घंटे लेट है। खैर....यह तो एक व्यंग्य है। इसका सार इतना-सा है कि ट्रेन समय पर पहुंचे और समय पर रवाना हो जाए तो यात्रियों को कितनी सुविधा होती है। न केवल ट्रेन अपितु हमारे जीवन रूपी गाड़ी यदि समय पर सारा काम करती रहे तो जीवन व्यवस्थित चलता रहता है।

आदमी की दिनचर्या का प्रारंभ जागरण के साथ होता है। इसलिए जागने का समय ठीक होना चाहिए। मैं कभी कभी कहता हूं कि सूर्य आदमी का स्वागत करे या आदमी सूर्य का स्वागत करे? सूर्य का स्वागत तभी संभव है जब आदमी सूर्योदय से पहले-पहले जागे। यदि सूर्य पहले उदित हो गया तो फिर सूर्य ही आदमी का स्वागत करेगा। हम सूर्य से स्वागत न कराएं। हम उसका स्वागत करें अर्थात सूर्योदय से पहले जाग जाएं तो हमारी दिनचर्या अच्छी हो सकती है। हमने गुरुदेव तुलसी को देखा। उनका उठने का समय प्रायः निश्चित था। यद्यपि सोने में तो कभी देरी भी हो जाती थी किन्तु प्रातः वे प्रायः चार बजे जाग जाया करते थे।

लड़का सो रहा था। नौ बज गए फिर भी उठ नहीं रहा था।

मां ने कहा—बेटा! सूरज उग गया, कितनी देर हो गई। तुम अब तो उठ जाओ।

लड़के ने कहा—मां! तुम सूरज के साथ मेरी क्या तुलना करती हो? सूरज तो सायं छह बजे ही सो गया था, मैं तो रात्रि में ग्यारह बजे सोया था।

आदमी ब्रह्ममुहूर्त्त में उठने का प्रयास करे। ब्रह्ममुहूर्त्त का समय पवित्र समय माना जाता है। वैसे तो आदमी जिस समय अच्छा काम करे, वह समय उसके लिए पवित्र हो जाता है। फिर भी सूर्योदय से एक घंटा पहले आदमी निद्रा को त्याग दे। वह एक घण्टा मुख्यतया सामायिक, स्वाध्याय, धर्म की साधना आदि में लगे तो आदमी के दिन का प्रारंभ मंगल के साथ होगा। उसे एक आध्यात्मिक खुराक प्राप्त हो जाएगी।

प्रत्येक व्यक्ति को चौबीस घण्टे का समय मिलता है। ऐसा कभी नहीं होता कि किसी मंत्री महोदय को तो पचीस घण्टे का समय मिलेगा और संतरी को तेईस घण्टे का समय मिलेगा। सबको बराबर समय मिलता है। यह प्रकृति की देन है। यहां प्रश्न होता है कि इस महत्त्वपूर्ण समय का आदमी उपयोग क्या और किस रूप में करता है? क्या हमारा समय केवल शरीर के लिए ही व्यतीत होता है या कुछ समय चेतना के लिए भी लगता है? खाना-पीना, सोना, कमाना आदि कार्य मुख्यतया शरीर को केन्द्र में रखकर किए जाते हैं। आदमी आत्मा को भी याद रखे, कुछ आत्मा के लिए भी करे। शरीर नश्वर है। आत्मा को अमर कहा गया है। आदमी इस नश्वर शरीर से अमर आत्मा के लिए क्या करता है? महाभारत में कहा गया है—

अध्रुवाणि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्त्तव्यो धर्मसंचयः।।

शरीर अध्रुव है, धन सम्पत्ति भी अध्रुव है। मृत्यु निकट हो रही है। इसलिए धर्म का संचय करना चाहिए। चौबीस घंटों में से अधिक समय न निकाल सकें तो प्रत्येक घंटे से कम से कम एक या दो मिनट का समय निकाल कर अलग से उसका संग्रह कर लिया जाए तो चौबीस या अड़तालीस मिनट का समय साधना में लगाया जा सकता है। उस समय में चाहे अच्छे ग्रंथ का स्वाध्याय किया जाए, ध्यान किया जाए, कोई न कोई आध्यात्मिक साधना यदि कुछ समय के लिए हो जाती है तो जीवनचर्या या दिनचर्या का सुन्दर क्रम बन सकता है।

शरीर के लिए भोजन अनिवार्य होता है तो चेतना के लिए भी भोजन आवश्यक है। शरीर के लिए स्नान किया जाता है तो चेतना की शुद्धि के लिए भी स्नान जरूरी है। शरीर का भोजन रोटी आदि है तो चेतना का भोजन भजन, स्वाध्याय, सामायिक आदि है। शरीर का स्नान पानी से किया जाता है किन्तु

चेतना का स्नान प्रतिक्रमण, आत्म निरीक्षण, आत्मालोचन, ध्यान आदि से हो सकता है। आदमी अपने जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य करे। गरिमापूर्ण कार्यों में अपना समय लगाए।

एक बार एक संत और साध्वी दोनों मिले। संत ने कहा—साध्वीजी! मैंने चालीस वर्षों तक साधना की है। इस साधना से मुझे यह सिद्धि प्राप्त हो गई कि जैसे आप लोग जमीन पर चलते हैं वैसे मैं पानी पर चल सकता हूं। साध्वीजी ने कहा—मुनिप्रवर! यह आपने कौनसी बड़ी सिद्धि प्राप्त कर ली? पानी पर तो एक मछली भी चलती है, तैरती है। मैं भी चाहूं तो आकाश में बैठ सकती हूं, मुझे भी यह सिद्धि प्राप्त है किन्तु हम इन छोटी बातों में न उलझें। आत्मा की शुद्धि कैसे हो, कषाय क्षीण कैसे हो, भीतरी ज्ञान उजागर कैसे हो, इनके लिए साधना करनी चाहिए। छोटी-मोटी बातों में अपना कीमती समय नहीं बिताना चाहिए। आदमी यह चिन्तन करे कि मेरा समय गरिमापूर्ण कार्यों के निष्पादन में लगता है या सामान्य/तुच्छ कार्यों के सम्पादन में लगता है। जो समय महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगता है वह समय हमारे लिए महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारी बन जाता है। समय बीत जाने के बाद आदमी यह सोचे कि मेरा बचपन चला गया, जवानी चली गई, मैंने तो कुछ किया ही नहीं। समय बीत जाने के बाद सोचने की अपेक्षा पहले चिन्तन करे कि मेरे सामने संभावित लंबा समय है। उसका अच्छा उपयोग करना है।

काल-प्रतिलेखना साधु संस्था के साथ तो जुड़ी हुई है ही किन्तु एक गृहस्थ के लिए भी जरूरी है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों में काम करने वाले हों अथवा अन्य कोई कार्य करने वाले हों। यदि समय प्रबंधन ठीक नहीं है तो कार्य की सफलता में बाधा उत्पन्न हो जाती है। उस बाधा को निवारित करने के लिए समय प्रबंधन को सीखना और उसे क्रियान्वित करना आवश्यक है। वह मनुष्य उत्तम है, जो समय का उत्तम उपयोग करता है। वह मनुष्य सामान्य है, जो समय का सामान्य कार्यों में उपयोग करता है। अध्यात्म के संदर्भ में चेतना के लिए समय नियोजित करना समय का उत्तम उपयोग है। मात्र भोग में ही समय को लगा देना समय का पूर्णतया उत्तम उपयोग नहीं होता। इसलिए आदमी चेतना के प्रति जागरूकता रखे। चेतना की निर्मलता के विकास में समय का नियोजन हो तो समय का उत्तम उपयोग हो सकेगा।

१६

प्रायश्चित्त से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**पायच्छित्तकरणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है। उत्तर दिया गया—**पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं च आयारफलं च आराहेइ।** प्रायश्चित्त करने से पापकर्मों की विशुद्धि होती है और आदमी निरतिचार हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त को स्वीकार करने वाला व्यक्ति मार्ग और मार्ग फल का विशोधन करता है तथा आचार और आचार के फल की आराधना करता है।

आदमी के जीवन में यदा-कदा गलतियां हो सकती हैं। ऐसे लोग तो बहुत कम मिलेंगे जिन्होंने लम्बा जीवनकाल प्राप्त किया हो और कभी भी कोई गलती उनसे न हुई हो। सामान्यतया गलती होना बहुत संभव है। एक सामान्य आदमी की बात तो दूर, साधक के साधनाकाल में भी प्रमाद हो जाता है। कभी छोटा प्रमाद हो सकता है और कभी बड़ा प्रमाद भी हो सकता है क्योंकि अभी उसने सिद्धत्व को प्राप्त नहीं किया है। वह साधना की प्रक्रिया से गुजर रहा है। हां, गलती का समर्थन नहीं करना चाहिए, गलती को गलती मानना चाहिए और फिर गलती के परिष्कार का प्रयास करना चाहिए। प्रमाद चाहे साधु-जीवन में हो या श्रावक-जीवन में, प्रमाद के विशुद्धिकरण का लक्ष्य रहना चाहिए। जिस प्रकार मकान में कभी टूट-फूट हो सकती है। उसे यदि वापिस

ठीक न कराया जाए, मकान का मेन्टिनेन्स न रखा जाए तो वह मकान खतरनाक बन सकता है। उसी प्रकार साधनामय जीवन भी एक प्रकार का मकान है। उसमें भी कभी कोई प्रमाद हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

जैन साधना पद्धति में एक महत्त्वपूर्ण शब्द है निर्जरा। निर्जरा के दो प्रकार हैं—बाह्य निर्जरा और आभ्यन्तर निर्जरा। बाह्य निर्जरा के छह प्रकार हैं और आभ्यन्तर निर्जरा के भी छह प्रकार हैं। आभ्यन्तर निर्जरा का पहला प्रकार है—प्रायश्चित्त। गुरुदेव तुलसी द्वारा प्रणीत ग्रंथ 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में प्रायश्चित्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**अतिचारविशुद्धये प्रयत्नः प्रायश्चित्तम्** दोष-विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रयास प्रायश्चित्त कहलाता है। जहां कोई टूट-फूट हो गई, उसे ठीक करने का प्रयास अथवा कपड़ा फट गया, उसे सीलने का प्रयास अथवा कहीं धब्बा लग गया, उसे साफ करने का प्रयास करना ही प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताए गए हैं—

१. आलोचना—गुरु के सामने अपने दोषों को निवेदित करना।

२. प्रतिक्रमण—किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' मेरे सब पाप निष्फल हों—ऐसा कहना, कायोत्सर्ग आदि करना और भविष्य में पाप कार्यों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।

३. तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।

४. विवेक—आए हुए अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग करना।

५. व्युत्सर्ग—चतुर्विंशति-स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।

६. तप—अनशन, ऊनोदरी आदि करना।

७. छेद—संयम-काल को देखकर कम कर देना।

८. मूल—पुनः व्रतारोपण करना।

९. अनवस्थाप्य—तपस्यापूर्वक पुनः व्रतारोपण करना।

१०. पाराञ्चित—भर्त्सना एवं अवहेलनापूर्वक पुनः व्रतारोपण करना।

जिस प्रकार का पापाचरण होता है, उसके अनुसार गुरु आदि प्रायश्चित्त देते हैं। न केवल साधु संस्था में अपितु सामाजिक व्यवस्थाओं में भी

प्रायश्चित्त का विधान है। समाज में इसे सरल भाषा में दण्ड कहा जाता है। कोई व्यक्ति गलती करता है, कोर्ट में मामला दर्ज हो जाता है। उस गलती के लिए उसे दण्ड दिया जाता है, सजा दी जाती है। यह सजा प्रायश्चित्त का ही एक प्रकार है। हम प्राचीनकाल की ओर ध्यान केन्द्रित करें तो भगवान ऋषभ से पहले यौगलिक काल में कुलकर व्यवस्था में प्रायश्चित्त का विधान था, दण्ड व्यवस्था थी। उस समय हाकार, माकार और धिक्कार नीति का प्रयोग किया जाता था। कुमार ऋषभ के राज्य संचालन के दौरान इन तीनों से आगे नई दण्ड-नीतियां शुरू हुईं। धीरे-धीरे विकास होता गया और फांसी की सजा दी जाने लगी। जब अपराध इतना भयंकर होता, तब अन्त में मृत्यु दण्ड दिया जाता। यह दण्ड का विधान विशोधन के लिए है।

गुरु ज्ञानी होते हैं। वे अपने शिष्य को शोधन का मार्ग बताते हैं। प्रायश्चित्त देकर उसकी शुद्धि करते हैं। उसे निर्मल बनाने का प्रयास करते हैं। प्रश्न हो सकता है कि किसको कितना दंड मिलना चाहिए? इसका निर्णय तो गुरु या ज्ञानी लोग ही करते हैं। दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही प्रकार का अपराध किए जाने पर भी दोनों के दण्ड में अन्तर रह सकता है।

एक ब्राह्मण और एक चरवाहे ने मिलकर चोरी की। दोनों पकड़े गए। राजा के सामने दोनों को प्रस्तुत किया गया। राजा ने दोनों के अपराध को सुना और अपना निर्णय सुनाया कि चारवाहे को बीस कोड़े और ब्राह्मण को तीस कोड़े लगाए जाएं। मंत्री परिषद के सदस्यों ने कहा—महाराज! यह कैसा अन्याय हो रहा है? दोनों ने मिलकर एक ही काम किया। फिर चरवाहे को बीस और ब्राह्मण को तीस कोड़े क्यों लगाए जाएं? राजा ने कहा—आप लोगों का निवेदन उचित ही है, दोनों का अपराध एक ही है किन्तु दोनों के स्तर में अन्तर है। चरवाहा अज्ञानी है। वह नियम, व्यवस्था को जानता नहीं है। इसलिए उसे दण्ड कुछ कम मिलेगा। ब्राह्मण तो शास्त्रों का वेत्ता है, औरों को भी शिक्षा देने वाला है, इसलिए उसे दण्ड कुछ अधिक मिलेगा। व्यक्ति के स्तर के आधार पर भी दण्ड में तारतम्य रह सकता है।

महर्षि वात्स्यायन के बहुत शिष्य थे। उन्हें इस बात का गौरव था कि मेरे शिष्य बड़े यशस्वी हैं, बड़े प्रतिभाशाली और चरित्रवान हैं। उनके एक शिष्य देवदत्त ने एक बार चोरी कर ली। महर्षि ने जब यह बात सुनी तो तत्काल चल पड़े देवदत्त को समझाने के लिए। उस समय कुछ अंधेरा हो चुका था। किसी

आदमी के आने की पदचाप सुनकर देवदत्त बोला—अरे कौन है? कौन है? यों कहते-कहते तलवार उठाई और सामने फेंकी। तलवार गुरुजी के मस्तक से टकराकर गिर गई। उसी समय बिजली कौंधी, प्रकाश हुआ और देखा—अरे! ये तो गुरुजी हैं। अनर्थ हो गया, मैंने यह क्या कर दिया। गुरुजी के निकट गया और देखा, कुछ चोट लगी है, थोड़ा रक्त भी निकल रहा है, निवेदन किया—गुरुदेव! मुझे माफ करना। आप जैसे गुरु के ऊपर मैंने प्रहार कर दिया। यद्यपि किया तो अज्ञानवश था, फिर भी मुझे माफ करें। गुरु ने कहा—वत्स! यह मेरा प्रायश्चित्त हो गया। मैंने तुम्हें प्रशिक्षित करते समय अवश्य ही कोई कमी रखी है इसीलिए तुम्हारे में चोरी की आदत पड़ गई। यदि मैं तुम्हें सम्यक् शिक्षण देता तो शायद तुम कभी चोर नहीं बनते। मेरी भूल या कमी का विशोधन हो गया। मुझे दण्ड मिल गया। शिष्य का मन बदल गया, बोला—गुरुदेव! अब मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूं कि भविष्य में चोरी कभी नहीं करूंगा। गुरु की अपनी गुरुता होती है कि वे किस शिष्य को किस प्रकार संबोधित करते हैं। एक बाल मुनि को कैसे शिक्षित करना, एक विज्ञ मुनि को कैसे शिक्षण देना, सबका तरीका अलग-अलग हो सकता है किन्तु लक्ष्य एक ही रहता है कि सबमें अच्छे संस्कारों का निर्माण हो और सन्मार्ग पर चलने का संकल्प पुष्ट होता रहे।

आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया कि प्रायश्चित्त करने से पापकर्म की शुद्धि होती है और व्यक्ति निरतिचार बन जाता है। सम्यक्तया प्रायश्चित्त स्वीकार करता हुआ साधक मार्ग और मार्गफल की विशुद्धि करता है। साधना के मार्ग हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना एवं मार्गफल है मोक्ष की प्राप्ति। प्रायश्चित्त कर लेने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना का मार्ग विशुद्ध बनता है, प्रशस्त बनता है और फिर उसका फल यानी अपने गंतव्य स्थल मोक्ष को भी प्राप्त हो जाता है। साधक आचार की आराधना करता है और आचार के फल की आराधना करता है। साधु का आचार है पांच महाव्रत और उसका फल है निर्जरा। जो साधक गलतियां करता है, स्वीकृत आचार में दोष लगाता है और गुरु के द्वारा पूछने पर मृषावाद का प्रयोग करता है, प्रायश्चित्त नहीं करता, अपनी शुद्धि नहीं करता, उसकी मृत्यु के बाद गति खराब हो सकती है। इसलिए स्वर्गवास से पहले-पहले शुद्धि हो जाए, यह लक्ष्य रखना चाहिए। हमारे संघ में परम्परा है कि जब जीवनकाल सम्पन्नता की ओर हो, तब विशेष

रूप से महाव्रतों की आलोचना कर लेनी चाहिए ताकि शुद्धि हो जाए। हमारी अनेक साध्वियों ने मुझे कहा—हम वृद्धावस्था में हैं, आप हमें आलोचना करा दें। जिससे हम आराधक बन जाएं, हमारी शुद्धि हो जाए। हर व्यक्ति को यह चिन्तन करना चाहिए कि हम दोषों का भार लेकर न जाएं, शुद्धिकरण करके हल्के बनकर जाएं ताकि अगली गति अच्छी हो सके। इस प्रकार दोष-शुद्धि का एक उपाय है—प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त के द्वारा वर्तमान अच्छा बनता है, भविष्य यानी अगली गति भी अच्छी होती है और यथासमय मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

१७

क्षमा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**खमावणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।** क्षमा करने से जीव मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री भाव उत्पन्न करता है। मैत्रीभाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

क्षमापना अर्थात् खमतखामणा करने से चित्त में प्रह्लादभाव पैदा हो जाता है। जहां-जहां बैर है, दुश्मनी है, गांठ बंधी हुई है, वहां मन में कुछ मलिनता रहती है, क्लेश का भाव रहता है और जिस व्यक्ति के प्रति द्वेष का भाव है, गांठ बंधी हुई है, उसे देखते ही मन में फिर आक्रोश की मानो आग जल जाती है। प्राचीन साहित्य में कहा गया कि जो वैर का अनुबंध है, वह एक जन्म तक नहीं अनेक जन्मों तक रह सकता है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने 'अनुकम्पा री चौपई' में सुन्दर कहा है—

मित्री सूं मित्रीपणों चलीयों जावें,
वेंरी सूं वेंरीपणों चलीयों जावें।

मित्र से मित्रता का अनुबंध और शत्रु से शत्रुता का अनुबंध चलता रहता

है। जिसके साथ मैत्री का संबंध है, वह भी अनेक जन्मों तक चल सकता है और किसी के साथ वैर का अनुबंध हो गया, वह भी अनेक जन्मों तक चल सकता है। इस जन्म में जिसके साथ मित्रता अथवा शत्रुता का संबंध है, अगले जन्मों में आपस में मिलेंगे तो संभव है मित्रता अथवा शत्रुता के संस्कार उभर सकते हैं। इसलिए किसी के साथ बोलचाल हो जाए, दुर्व्यवहार हो जाए तो उसको धो डालना चाहिए। साफ कर देना चाहिए। उसे साफ करने का तरीका है—खमतखामणा करना। अंग्रेजी भाषा का एक शब्द है—सॉरी। थोड़ी-सी भूल, गलती या आशातना हो जाए तो तत्काल सॉरी बोलकर खेद प्रकट किया जाता है। यह तो छोटी बात के लिए है। कोई बड़ी बात हो जाए तो गांठ बांधकर न रखे। कोई समस्या हो तो मिल-बैठकर उसे सुलझाने का प्रयास करे, गांठ को काटने की बजाय उसे खोलने का प्रयास करे और चित्त को प्रसन्न बनाए रखे।

जैन परम्परा में संवत्सरी महापर्व आता है। उस दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद परस्पर खमतखामणा का प्रयोग होता है। यह वर्ष में एक बार आता है। हालांकि हम साधु-साध्वियां एक वर्ष में पचीस बार खमतखामणा करते हैं यानी एक महीने में दो बार पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं, उसके बाद खमतखामणा भी करते हैं। इस प्रकार बारह महीनों में चौबीस बार और एक बार संवत्सरी के दिन विराट रूप में खमतखामणा किया जाता है। इस दिन केवल साधु-साध्वियां ही नहीं, गृहस्थ लोग भी परस्पर खमतखामणा करते हैं। यह मैत्री का पर्व भाद्रव महीने में आता है। यह एक ऐसा पर्व है कि वर्षभर में हमारे द्वारा कोई अविनय, अशिष्ट व्यवहार हुआ हो या हमारे व्यवहार से किसी को कष्ट हुआ हो तो हम खमतखामणा करके उसे साफ कर लें। उसका महत्त्वपूर्ण आधारभूत श्लोक है—

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।

मैं सभी जीवों को क्षमा देता हूं, सभी जीव मुझे क्षमा दें। सभी प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव है। किसी भी प्राणी के प्रति मेरे मन में वैरभाव नहीं है। यह केवल बोलना ही नहीं है, वैसी अनुभूति भी होनी चाहिए। इसका मतलब है आदमी का मन साफ हुआ है, हल्का हुआ है। यह खमतखामणा का प्रयोग हर जाति, वर्ग और अवस्था वाले व्यक्तियों के लिए आचरणीय है। भले कोई

हिन्दु या मुस्लिम आदि हों, भले ग्रामीणजन हों या शहरी लोग हों, चाहे छोटे बच्चे हों या बुजुर्ग व्यक्ति हों, चाहे समाज में काम करने वाले हों या राजनीति आदि में काम करने वाले हों, यह क्षमापना की बात सबके लिए उपयोगी है।

मेरे मन में कई बार एक बात आती है कि जब-जब चुनाव का माहौल होता है। तब विभिन्न पार्टियों के लोग एक दूसरे की छींटाकशी भी करते हैं, आक्षेप भी लगाते हैं। कभी साधार तो कभी निराधार भी आक्षेप-प्रक्षेप हो सकता है। हमने थोड़ी राजनेताओं से बातचीत की। उन्होंने बताया कि चुनाव के दिनों में एक दूसरे पर आक्षेप-प्रक्षेप न करें या विपक्षियों की कमजोरियां न बताएं तो हमें वोट कैसे मिलेंगे। मेरा मानना है कि यदि चुनाव के दिनों में इस प्रकार का कार्य करना भी पड़े तो कम से कम चुनाव सम्पन्न हो जाने के बाद आपस में खमतखामणा कर लेना चाहिए। ताकि बाद में मन साफ हो जाए।

बालक-बालिकाओं में प्रारंभ से ही खमतखामणा के संस्कार पुष्ट हों। बच्चों के सामने संभावित लम्बा भविष्य है। जो वृद्ध हो गए हैं, उनके सामने संभावित भविष्य कुछ कम रह गया है। जो अभी युवा हैं, उनके सामने भी संभावित भविष्य कुछ कम रह गया है। किन्तु जो अभी बच्चे हैं, उनके सामने लम्बा भविष्य हो सकेगा। उन्हें विशेष ध्यान देना चाहिए। उनमें ज्ञान का विकास हो, अच्छे संस्कारों का विकास हो। बच्चों में निर्भीकता रहे, निडरता रहे। निडरता का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि वे उद्दण्ड बन जाएं। निडरता के साथ-साथ नम्रता का योग होना चाहिए। किसी बालक-बालिका से कोई गलती हो जाए, अपनी ओर से किसी को कष्ट हो जाए तो उन्हें परस्पर खमतखामणा कर लेना चाहिए ताकि मैत्रीपूर्ण संबंध बने रह सकें।

आदमी के जीवन में कुछ ऐसे प्रसंग आ जाते हैं, कोई ऐसी बात हो जाती है, जिससे मन में गांठ बंध जाती है। पूज्य गुरुदेव तुलसी मेवाड़ यात्रा कर रहे थे। मैं भी गुरुदेव के साथ ही था। एक गांव में पूज्य गुरुदेव का पादार्पण हुआ। ज्ञात हुआ कि गांव में किसी बात को लेकर आपस में विवाद चल रहा है। विवाद से सम्मुख लोगों में से एक व्यक्ति को गुरुदेव ने कहा—तुम ध्यान दो, इस विवाद को मिटा दो। वह बोला—गुरुदेव! मैं आपका भक्त हूं,

श्रावक हूं। आप आदेश दें तो मैं धूप में खड़ा-खड़ा सूख जाऊंगा किन्तु इस विवाद को नहीं मिटाऊंगा। उस भाई में कितनी पकड़ थी। बात बहुत तन गई थी। हालांकि फिर उसे समझाया गया और उसने भी स्वीकार किया कि मैं बात को छोड़ दूंगा, विवाद को संपन्न कर दूंगा। आदमी में क्षमा का भाव जाग जाए तो किसी विवाद को मिटाने में सहायता मिल जाती है।

आदमी के भीतर अनेक प्रकार के विकार हैं। अशुभ भाव हैं, जैसे—आक्रोश का भाव, वैमनस्य का भाव, दुराग्रह का भाव आदि-आदि। आदमी विचार करे, चिन्तन-मंथनपूर्वक इन विकारों पर ऐसा प्रहार करे जिससे इन विकारों के स्थान पर क्षमा, सामंजस्य, अनाग्रह, प्रेम, करुणा आदि भाव स्थापित हो सकें। जहां इस प्रकार के भाव होते हैं वहां सामान्यतया समस्या पैदा ही नहीं होती। कदाचित समस्या उत्पन्न हो जाती है तो समाधान भी आसानी से दिया जा सकता है। जहां प्रेम का भाव होता है, वहां खमतखामणा की अपेक्षा ही नहीं रहती। मात्र उपचार की दृष्टि से भले ही खमतखामणा किया जा सकता है किन्तु नैश्चयिक दृष्टि से फिर खमतखामणा की जरूरत नहीं रहती।

धार्मिक साहित्य में चौरासी लाख जीवयोनियां बताई गई हैं। उन चौरासी लाख जीवयोनियों में अनन्त जीव होते हैं। पाक्षिक, चातुर्मासिक और संवत्सरी महापर्व के दिन उन सभी चौरासी लाख जीवयोनिक जीवों से परम्परागत रूप से अथवा उपचार से खमतखामणा किया जाता है, यह भी अच्छी बात है। किन्तु विशेष रूप से खमतखामणा अपने भाई के साथ, पति/पत्नी के साथ करना चाहिए। अपने आसपास रहने वालों के साथ करना चाहिए। जिनके साथ हमारा काम पड़ता रहता है, उनके साथ खमतखामणा करना चाहिए। जिनके साथ ज्यादा व्यवहार होता है, उनके साथ दुर्व्यवहार होने की संभावना रहती है। इसलिए उनके साथ विशेष रूप से खमतखामणा करना चाहिए। जिससे मन साफ और शांत रह सके।

खमतखामणा का आधारभूत तत्त्व है—सहनशीलता। हमारे भीतर सहन करने की शक्ति का विकास होना चाहिए। कोई कुछ भी कह दे, हम उसे सहन करेंगे, यह माद्दा होना चाहिए। सहनशीलता की प्रेरणा बाल्यावस्था से ही दी जानी चाहिए। विद्यार्थी अध्ययन करते हैं, ज्ञानार्जन करते हैं। उनकी ज्ञान शक्ति

का विकास होता है, समझशक्ति का भी विकास होता है। परन्तु केवल ज्ञानशक्ति और समझशक्ति का ही विकास न हो, इसके साथ-साथ सहनशक्ति का भी विकास होना चाहिए। जिससे वह प्रतिकूल परिस्थितियों को झेल सके और बड़ी सरलता के साथ अपने परिवार के साथ, अपने साथियों के साथ और अपने संबंधियों के साथ रह सके। जिन बालक-बालिकाओं में ज्ञानशक्ति और समझशक्ति का विकास हो किन्तु सहनशक्ति का विकास न हो तो वे परिस्थितियों को जान लेंगे, समझ लेंगे परन्तु सहनशीलता के अभाव में उनके मन में प्रतिक्रिया होगी, वेदना होगी और वे दुःखी बन जाएंगे। इसलिए बालक, बालिकाओं का भविष्य उज्ज्वल बने, उनका जीवन सुखमय, शांतिमय और आनन्दमय हो, एतदर्थ अपेक्षा है कि उनमें सहनशक्ति का विकास हो।

पूज्य गुरुदेव तुलसी और पूज्य आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा जगत के लिए 'जीवन विज्ञान' का प्रारूप प्रस्तुत किया। ताकि विद्यार्थी ऐसे रहस्यों को पकड़ें, ऐसे प्रयोग करें, जिससे उनके भीतर भावात्मक शक्ति का विकास हो सके, भाव शुद्ध रह सकें। आदमी में आई. क्यू. का विकास होना चाहिए, इ. क्यू. का विकास भी होना चाहिए और इससे आगे एस. क्यू. अर्थात् आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिए। जिसमें आध्यात्मिक विकास होता है, उसमें सहनशक्ति का विकास भी संभव है। सहन करने वाला व्यक्ति ही क्षमा कर सकता है और मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त कर सकता है।

समर्थ रामदास एक घर में भिक्षा के लिए गए। द्वार पर खड़े होकर 'भिक्षां देहि' यह कहकर भिक्षा की याचना की। गृहस्वामिनी उस समय बहुत आक्रोश में थी। क्रोध के आवेग में वह संतुलित नहीं रह सकी। उस समय वह रसोई साफ कर रही थी। उसके हाथ में रसोई साफ करने का वस्त्र 'मसौता' था। उस गन्दे मसौते को गृहस्वामिनी ने संत रामदास के मुंह पर फेंक दिया। समर्थ रामदास कुछ नहीं बोले। वे सीधे नदी पर गए और उस कपड़े को रगड़-रगड़कर साफ किया। उसकी बाती बनाई। सायंकाल दीपक में रखकर उस बाती को जलाया और अपने इष्ट की आरती करने लगे। आरती करते-करते उन्होंने अपने इष्टदेव से निवेदन किया—'प्रभो! जिस प्रकार यह बाती अंधकार का नाश कर रही है, उसी प्रकार उस गृहस्वामिनी के भीतर का अंधकार भी दूर हो,

उसके भीतर भी प्रकाश पैदा हो।' यह है व्यक्ति की सहनशीलता और क्षमाशीलता। किसी कवि ने सुन्दर कहा है—

क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति?
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।।

क्षमा रूपी शस्त्र जिसके हाथ में है, दुर्जन व्यक्ति उसका क्या अनिष्ट कर सकता है? अग्नि में ईंधन नहीं डालने से वह अपने आप शांत हो जाती है। अपेक्षा है, आदमी क्षमाशील बने, मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त करे, सबके साथ मैत्रीभाव रखे और भावशुद्धि के द्वारा परमगति को प्राप्त करे।

१८

स्वाध्याय से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** स्वाध्याय करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।** स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है—ज्ञान। जिस आदमी में ज्ञान का अभाव होता है, वह एक प्रकार से अंधा होता है। अंधे आदमी के लिए जैसे बहुत सारी चीजें अज्ञात रह जाती हैं, वैसे ही आदमी के ज्ञान पर जब आवरण आया हुआ होता है तब वह जान नहीं पाता। जैन कर्मवाद के अनुसार आठ कर्मों में पहला कर्म है—ज्ञानावरणीय कर्म। यह हमारे ज्ञान को आवृत करता है। जिस प्रकार आंख पर पट्टी लगा लेने से दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो जाने से आदमी जान नहीं पाता। आदमी का यह लक्ष्य रहे कि जीवन में ज्ञान का विकास हो और ज्ञान का विकास तब होता है जब ज्ञानावरणीय कर्म कमजोर पड़ता है। ज्ञानावरणीय कर्म को हल्का या कमजोर करने का एक उपाय है—स्वाध्याय। प्राकृत भाषा में इसे सज्झाय कहा जाता है। यह स्व और अध्याय दो शब्दों से बना है। अपना अध्ययन करना, अपने बारे में जानना स्वाध्याय है। स्वाध्याय का सीधा संबंध आत्मा के साथ है। आत्मा के बारे में जान लेने का मतलब है अध्यात्म के बारे में जान लेना। अध्यात्म को जानने के लिए आध्यात्मिक विषयों का अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन स्वाध्याय का एक प्रकार है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस

प्रकार भी व्याख्या की जा सकती है—**सुष्ठु अध्यायः इति स्वाध्यायः** अच्छी तरह सर्वांगीण रूप में अध्ययन करना स्वाध्याय है। पढ़ना-पढ़ाना आदि स्वाध्याय के अंग है। पठन-पाठन से ज्ञान का आवरण पतला पड़ता है अथवा उसमें छिद्र हो जाते हैं, जिससे ज्ञान की रश्मियां प्राप्त हो जाती हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए विद्यालय बने हुए हैं। चूंकि हम लोग पदयात्रा करते हैं। इसलिए बहुधा विद्यालयों में हमारा प्रवास होता है। जगह-जगह विद्यालयों की विपुलता है। छोटे-छोटे गांवों में भी विद्यालय मिलते हैं। सरकार भी शिक्षा के लिए जागरूक है। गरीब बच्चों को भी शिक्षा का मौका मिले, उसके लिए भी सरकार सचेष्ट है और शिक्षा की व्यवस्था कर रही है। अज्ञान के कारण आदमी अनेक रूढ़ियों को पकड़ लेता है और गलत काम भी कर लेता है। शिक्षा का विकास होने से अज्ञान जनित समस्याओं से छुटकारा मिल सकता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वाध्याय का वैशिष्ट्य माना गया। साधक के लिए स्वाध्याय एक प्रकार का अमृत है। इसका एक कार्य है—दूसरों को ज्ञान देना। जब तक साधक स्वयं स्वाध्याय नहीं करेगा, शास्त्रों आदि को नहीं पढ़ेगा, तब तक उसका ज्ञान विकसित नहीं होगा और जब उसका स्वयं का ज्ञान विकसित नहीं होता है तब वह दूसरों को ज्ञान क्या और कैसे दे पाएगा? प्रस्तुत आगम के छब्बीसवें अध्ययन में कहा गया है—

पुच्छेज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं?
इच्छं निओइउं भंते! वेयावच्चे व सज्झाए।।

प्रातःकाल गुरु को वन्दन कर शिष्य गुरु से पूछे—गुरुदेव! आज आप मुझे किस कार्य में नियोजित करना चाहेंगे। मेरे सामने दो कार्य हैं—सेवा और स्वाध्याय। आपकी आज्ञा हो तो मैं वृद्ध, ग्लान आदि साधुओं की सेवा करूं। आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वाध्याय करूं। जैसा आपका निर्देश होगा, मैं वही कार्य करूंगा। सेवा भी महत्त्वपूर्ण कार्य है और स्वाध्याय का भी अपना महत्त्व है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**स्वाध्यात् मा प्रमद** स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो, स्वाध्याय करते रहो। स्वाध्याय को सर्वोत्तम माना गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि स्वाध्याय करने से ज्ञान मिलता है। ज्ञान प्राप्त कर आदमी सही आचार का पालन कर सकता है। ज्ञान ही नहीं होगा तो आचार का पालन कैसे होगा? ज्ञान है तो जीवन में अहिंसा आ पाएगी,

ईमानदारी आ पाएगी और संयम आ पाएगा, किन्तु ज्ञान सम्यक् होना चाहिए। सम्यक् ज्ञान का एक बड़ा आधार बनता है—स्वाध्याय। इसीलिए स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप कहा गया होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ज्ञान लौकिक भी हो सकता है और अलौकिक यानी आध्यात्मिक भी हो सकता है। अध्यात्मविद्या के संदर्भ में ज्ञान के बारे में कहा गया—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

जिससे तत्त्व का बोध होता है, चित्त का निरोध होता है, आत्मा विराट होती है, उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है। ज्ञान प्राप्त करने की मन में तड़प होनी चाहिए। ज्ञान प्राप्त करना भी तपस्या है, साधना है। तड़प हो तो उसे वृद्धावस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है। हमारे धर्मसंघ के उच्चकोटि के वरिष्ठ मुनि मंत्रीमुनिश्री मगनलालजी स्वामी प्रौढ़ अवस्था में थे। गुरुदेव तुलसी की कुछ प्रेरणा मिली। उन्होंने प्रयास किया और उत्तराध्ययन सूत्र के अनेक अध्ययन कंठस्थ कर लिए। यद्यपि बचपन में जितनी आसानी से कंठस्थ हो सकता है, वृद्धावस्था में थोड़ी कठिनाई तो हो सकती है किन्तु पुरुषार्थ हो और बुद्धि हो तो कुछ याद किया जा सकता है। हमारे यहां साधु संस्था में कंठस्थ करने की परम्परा रही है। हजारों-हजारों श्लोक स्मरण कर लिए जाते हैं। कुछ परिश्रम किया जाए तो ज्ञान का विकास हो सकता है। किसी भाषा को सीखना है तो कुछ पुरुषार्थ करना होगा। पहले उस भाषा की व्याकरण को सीखना होगा, साहित्य को पढ़ना होगा, तब कहीं उस भाषा का अच्छा बोध हो सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

बिना व्याकरणेनान्धः, बधिरः कोशवर्जितः।
साहित्यरहितः पंगुः, मूकस्तर्कविवर्जितः।।

किसी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना है तो व्याकरण का ज्ञान अच्छी तरह करना होगा, तब प्रकाश मिलेगा। अगर व्याकरण का ज्ञान नहीं है तो भाषा की दृष्टि से उस आदमी को अंधा माना गया है। व्याकरण से आंखें खुलती है। जिस आदमी के पास शब्द भंडार नहीं होता है, वह आदमी बहरा होता है। क्योंकि जब कोई आदमी भाषण देगा तो वह नए-नए शब्दों का प्रयोग करेगा। यदि श्रोता को शब्दों का ज्ञान नहीं होगा तो उसके लिए उन शब्दों को सुनना और न सुनना प्रायः समान होगा। इसलिए शब्द भंडार के

बिना आदमी को बहरा बताया गया है। जिसकी साहित्य में गति नहीं होती, वह भाषा की दृष्टि से पंगु होता है और जिसके पास तर्क बल नहीं होता, वह सुन लेता है किन्तु प्रश्न नहीं उठा सकता। इसलिए उसे मूक कहा गया है। परिश्रम करने से आदमी किसी भाषा को भी आत्मसात् कर सकता है, शास्त्रों की गहराई में भी जा सकता है। जिसकी ज्ञान के प्रति रुचि नहीं होती, वह कैसे और कितना ज्ञान का विकास कर सकेगा।

पूज्य गुरुदेव तुलसी बड़े ज्ञानी पुरुष थे, शास्त्रों के वेत्ता थे, कई भाषाओं के वेत्ता थे। उन्होंने कितने-कितने शिष्यों को ज्ञान का दान दिया। एक बार उन्होंने साधुओं की सभा में फरमाया था कि तुम लोगों को तत्त्वज्ञान का विकास करना चाहिए। हम लोग हमेशा तुम्हारे सामने नहीं रहेंगे। आखिर स्वयं को ज्ञान का विकास करना चाहिए। अपना ज्ञान ज्यादा काम आता है। दूसरों के भरोसे ज्यादा नहीं रहना चाहिए। ज्ञान के बिना आदमी सद्गुणों से वंचित भी रह सकता है, अपना नुकसान भी कर सकता है। इसलिए व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति के लिए अध्यवसाय युक्त बने। मात्र साधु-साध्वियों को ही नहीं, गृहस्थों को भी आध्यात्मिक ज्ञान का विकास करना चाहिए। आजकल तो ज्ञान प्राप्ति की बहुत सुलभता है, इतना साहित्य, इतनी अनुकूल साधन सामग्री उपलब्ध है और इन्टरनेट आदि के माध्यम से भी ज्ञान आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी स्थितियों में समय का कुछ उपयोग यथासंभव ज्ञानात्मक विकास में भी करना चाहिए। ताकि जीवन में कुछ प्राप्त हो सके। जिसके पास ज्ञान नहीं होता, उसके सामने कठिनाई पैदा हो सकती है। हमारे धर्मसंघ में बड़े नामी और ज्ञानी सन्त हुए हैं—मुनिश्री घासीरामजी स्वामी। उनके जीवन का एक प्रसंग है। वे जब वैरागी अवस्था में थे, तब पूज्य आचार्यश्री कालूगणी के दर्शन करने सुजानगढ़ गए। वहां के लोढ़ा परिवार ने उनको भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजन में उनको संभवतः खीर परोसी गई। उस खीर के ऊपर बादाम, पिस्ता आदि के पतले टुकड़े करके डाले गए थे। वैरागीजी ने खीर नहीं खाई। लोगों ने कहा—वैरागीजी खीर खाइए। वैरागी ने कहा—खीर कैसे खाऊं? इसके ऊपर तो कितनी लटें तैर रही हैं। वे मेवाड़ के एक गांव दिवेर के रहने वाले थे। उस जमाने में शायद मेवाड़ में खाद्य पदार्थों का इतना विकास नहीं हुआ होगा। तभी उनके लिए अज्ञात बात थी कि ऐसा भी कोई खाद्य पदार्थ होता है। ज्ञान के अभाव में पौष्टिक चीजें भी उनके लिए लटें बन गई।

आदमी में ज्ञान का सम्यक् विकास हो। चाहे अध्यात्म का क्षेत्र हो अथवा व्यवहार का क्षेत्र हो। ज्ञान का अभाव सर्वत्र त्याज्य होता है। इसलिए आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया कि स्वाध्याय के द्वारा, पठन-पाठन, अनुप्रेक्षा, जिज्ञासा आदि के द्वारा ज्ञान को आवृत करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होता है और आदमी में ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान का विकास होना जीवन की एक उपलब्धि होती है। हम ज्ञान का विकास करें, जिससे हमें प्रकाश प्राप्त हो सके।

१९

वाचना से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**वायणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**वायणाए णं निज्जरं जणयइ, सुयस्स य अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।** वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की अनाशातना होती है। श्रुत की अनाशातना करने वाला तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेता है। तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेने वाला महानिर्जरा और महापर्यवसान का भागी होता है।

स्वाध्याय तपस्या का एक प्रकार है। स्वाध्याय के पांच प्रकार बताए गए हैं। वे एक प्रकार से अध्यापन की प्रक्रिया के अथवा ज्ञान दान के प्रकार हैं। उनमें एक प्रकार है—वाचना। वाचना का मतलब है विद्यार्थियों को, शिष्यों को पढ़ाना। विद्यालयों में कितने-कितने विद्यार्थी वाचना प्राप्त करते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं और स्वयं के अज्ञान को दूर करते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी का एक संबंध होता है। शिक्षक का कार्य है ज्ञान देना और विद्यार्थी का कार्य है ज्ञान लेना। शिक्षक वाचना को अथवा ज्ञान देने के कार्य को भार न समझे, मात्र जीविका का साधन न समझे अपितु पुनीत कार्य समझे कि मैं ज्ञान-दान के द्वारा कितनों का अंधकार मिटा रहा हूं।

अन्धकारनिरोधित्वात्, गुरुरित्यभिधीयते।

अंधकार को रोकने के कारण शिक्षक का नाम गुरु हो गया। गुरु पर बड़ा दायित्व होता है कि वह अपने शिष्यों का, विद्यार्थियों का अज्ञानरूपी अंधकार दूर करे। शिक्षक में तीन बातें होनी चाहिए–शिष्टता, ज्ञान की योग्यता और ज्ञान-दान में कर्मठता। शिक्षक का जीवन इतना पुनीत हो, सदाचार संपन्न हो कि बोलकर कुछ न कहने पर भी उसके व्यवहार को देखकर विद्यार्थी व्यवहार का प्रशिक्षण प्राप्त कर सके। उसमें नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा हो, अहिंसा और मैत्री की चेतना जागृत हो। उसका जीवन नशामुक्त हो। ऐसे सद्गुण संपन्न शिक्षक को शिष्ट शिक्षक कहा जा सकता है।

शिक्षक स्वयं अध्ययन करे। अपने ज्ञान को स्पष्ट और पुष्ट रखे, जिससे विद्यार्थियों को सही ज्ञान दिया जा सके। हालांकि अध्यापन करने से स्वतः ही शिक्षक का ज्ञान पुष्ट और स्पष्ट होता है। एक दृष्टि से विद्यार्थी शिक्षक होता है और शिक्षक विद्यार्थी होता है। क्योंकि शिक्षक जब पढ़ाता है, तब विद्यार्थी की जिज्ञासा होती है, प्रश्न होते हैं। उससे शिक्षक का ज्ञान और ज्यादा खुलता है, पुष्ट होता है। इस मायने में विद्यार्थी अपने गुरु के शिक्षक बन जाते हैं और चूंकि शिक्षक का ज्ञान विद्यार्थियों की जिज्ञासा के कारण स्पष्ट बनता है। इसलिए शिक्षक को विद्यार्थी भी कहा गया है।

शिक्षक में श्रमशीलता होनी चाहिए। वह अपने विषय की पूरी तैयारी करे। बहुत श्रम के साथ और निष्ठा के साथ विद्यार्थियों को पढ़ाए। शिक्षक के मन में यह तड़प होनी चाहिए कि मुझे विद्यार्थियों का निर्माण करना है। मात्र कालांश के समय में ही नहीं, यदि अपेक्षा हो तो अतिरिक्त समय में भी पढ़ाने का, ज्ञान देने का प्रयास करना चाहिए। धर्म परम्परा में भी ज्ञान-दान का क्रम चलता है। धर्मगुरु भी अपने शिष्यों को ज्ञान देते हैं। शास्त्रों में कितना गहन ज्ञान होता है। हम वेदों को देखें, उपनिषदों को देखें, जैन आगमों को देखें, पिटक आदि को देखें, और भी विभिन्न ग्रंथ मिल सकते हैं, जिनमें कितना विशद और विशाल ज्ञान है। गुरु ज्ञान के उन विभिन्न प्रकल्पों में निष्णात होते हैं। वे अपने शिष्यों को रहस्य बता सकते हैं। यद्यपि स्वयं पढ़ने से भी काफी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु कुछ रहस्य ऐसे होते हैं, जिन्हें विशेषज्ञ गुरु ही प्रकट कर सकते हैं। इसलिए गुरु से ज्ञान लेने की अपेक्षा रहती है। गुरु का धर्म है, कार्य है कि वह अपने शिष्यों को ज्ञान दे और शिष्य का धर्म है कि वह विनयपूर्वक गुरु द्वारा दीयमान ज्ञान को ग्रहण करे। एक शिष्य के लिए

अपेक्षित है कि वह अहंकार मुक्त रहे। गुरु के प्रति विनम्र रहने से ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। विद्यार्थी के लिए अपेक्षित है कि वह ज्यादा गुस्सा न करे, अक्रोध भाव रखे, शान्त रहे तो ज्ञान आसानी से प्राप्त हो सकेगा। विद्यार्थी के लिए अपेक्षित है कि वह प्रमाद से बचे, ज्यादा मनोरंजन न करे, नशा न करे, जागरूक रहे, ज्ञान अच्छी तरह मिल सकेगा और विद्यार्थी के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह बीमार न बने, स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रहे। रुग्ण व्यक्ति कितना और क्या अध्ययन कर पाएगा? इसलिए शरीर स्वस्थ रहे, उसके लिए योगासन का अभ्यास, खान-पान का संयम, प्रातःकाल भ्रमण आदि हो तो शरीर को स्वस्थ रखने में सहायता मिल सकती है। विद्यार्थी के लिए अपेक्षित है कि वह आलस्य न करे। आलस्य मनुष्य का एक ऐसा शत्रु है जो उसका नुकसान कर देता है। जो व्यक्ति श्रम करता है वह कभी अवसादग्रस्त नहीं बनता।

रात्रि का समय था। लड़का तन्मयता के साथ पढ़ रहा था। मां सरस्वती ने देखा कि कितना श्रमशील विद्यार्थी है। इतनी रात्रि में पढ़ रहा है। कहते हैं कि मां सरस्वती प्रकट हुई और बोली—वत्स! मैं तुम्हारी अध्ययननिष्ठा और श्रमनिष्ठा से प्रभावित हूं। इसलिए अब तुम पढ़ना-लिखना बंद कर दो, अपने आप अच्छे अंकों से पास हो जाओगे। लड़के ने कहा—मां! तुम्हारी बड़ी कृपा है कि मुझे बिना पढ़े ही अच्छे अंक मिल जाएंगे। किन्तु मुझे यह वरदान नहीं चाहिए। यदि तुम कुछ देना ही चाहती हो तो इस दीये में तेल डाल दो। यह दीया जलता रहे और मैं रातभर पढ़ता रहूं। कितनी श्रमनिष्ठा और ज्ञान के प्रति कितना अच्छा अध्यवसाय था। ज्ञान के साथ-साथ उसका आचार भी अच्छा बने, क्योंकि ज्ञान का सार है आचार। जैसे—दूध का सार मक्खन होता है, वैसे ही ज्ञान का सार सदाचार होता है। ज्ञानवृद्धि और सदाचार के साथ-साथ आजीविका प्राप्त हो सके, ऐसी स्थिति का निर्माण भी अपेक्षित होता है। एक विद्यार्थी यदि आजीविका प्राप्ति के योग्य नहीं बन पाता है तो वह अपना परिवार कैसे चलाएगा? उसके लिए वह ज्ञान भी आवश्यक है। उसमें वह क्षमता भी अपेक्षित है जिसके द्वारा वह कमाई कर सके और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके।

अभिभावक अपने लाडलों को विद्यालय में भेजते हैं। उनके मन में कई कल्पनाएं होती हैं। हम उन कल्पनाओं को अपनी कल्पनाओं से अनुमानित कर

सकते हैं। अभिभावक यह सोचते हैं कि वर्षों तक हमारा बच्चा विद्यालय में पढ़ेगा तो वह ज्ञान संपन्न बन जाएगा, आजीविका प्राप्ति के योग्य बन जाएगा और संस्कार संपन्न बन जाएगा। ज्ञान संपन्नता, आत्मनिर्भरता और संस्कार संपन्नता—इन अपेक्षाओं की पूर्ति विद्या-संस्थानों से होती हैं तो वह संस्थान अपने आपमें सफल है, सुफल है। यदि इन अपेक्षाओं की पूर्ति में कमी रहती है तो मानना चाहिए कि कहीं-न-कहीं कमी है। चाहे शिक्षक में कमी है, चाहे सिस्टम में कमी है या फिर स्वयं विद्यार्थी में कमी है कि वह ठीक तरह ज्ञान प्राप्त नहीं कर रहा है, संस्कार प्राप्त नहीं कर रहा है और योग्यता का विकास नहीं कर पा रहा है।

विद्यार्थी में ज्ञानात्मक विकास के साथ भावात्मक विकास भी हो। उसके भाव शुद्ध बन सकें जिससे वह न अपने लिए समस्या बने, न परिवार के लिए समस्या बने और न समाज के लिए समस्या बने, अपितु उसमें समस्या का समाधान देने की क्षमता का निर्माण हो। अगर विद्यार्थी में अच्छे संस्कार, अच्छा ज्ञान और अच्छी क्षमता है तो वह समस्या-उत्पादक नहीं, समस्या समाधायक बन सकता है। ज्ञान का अभाव कई बार आदमी को गलत रास्ते पर भी ले जा सकता है। लौकिक विद्या का ज्ञान आवश्यक है तो अलौकिक विद्या का बोध भी अपेक्षित है। जिससे जीवन में संतुलन बना रह सके। ज्ञान अनन्त है किन्तु जो महत्त्वपूर्ण है, सारभूत है, उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे—हंस दूध और पानी में से दूध को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही ज्ञानार्थी सारयुक्त ज्ञान को प्राप्त करे। इस ज्ञान प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण माध्यम बनती है वाचना। वाचना से निर्जरा होती है और तीर्थधर्म की स्थिरता रहती है। ज्ञान की परम्परा चलती रहती है।

परम पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कितना ज्ञान प्राप्त किया और कितनों को बोध दिया, कितनों को ज्ञान देने का प्रयास किया। कितनों को संस्कृत भाषा के ग्रंथ पढ़ाए, और तो क्या, आगम संपादन करके कितने-कितने पाठकों के लिए आगम ज्ञान सुलभ बना दिया। कितने-कितने विद्यार्थी साधु-साध्वियों, समण-समणियों ने आचार्यप्रवर के चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया है। उन विद्यार्थियों में एक नाम मेरा भी है। यह अलग बात है कि किसने, कितना ज्ञान आत्मसात किया। फिर भी पूज्यप्रवर के उपपात में बैठकर कुछ सीखने का, पढ़ने का अवसर मिला, यह भाग्य की बात है। आचार्यश्री ने

वाचना देकर कितनों पर उपकार किया। ऐसे महामनीषी, विद्यामनीषी, आगमज्ञानमनीषी व्यक्ति भी कुछ-कुछ ही होते हैं। जिनकी अपनी प्रज्ञा होती है, मेधा होती है, अध्यवसाय होता है और जिन्हें अनुकूल स्थितियां मिल जाती हैं।

आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया कि वाचना से निर्जरा होती है, श्रुत का सम्मान होता है और श्रुत का सम्मान करने वाला व्यक्ति तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेता है। तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाला व्यक्ति कर्मों का और संसार का अन्त करने वाला होता है।

२०

प्रतिप्रश्न से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**पडिपुच्छणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ।** प्रतिप्रश्न करने से जीव सूत्र, अर्थ और उन दोनों से संबंधित संदेहों का निवर्तन करता है और कांक्षा मोहनीय कर्म का विच्छेद करता है।

स्वाध्याय के पांच प्रकारों में दूसरा प्रकार है—प्रतिप्रश्ना। अध्यापन की प्रक्रिया में जैसे पढ़ाना महत्त्वपूर्ण है तो प्रश्न करना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस विद्यार्थी में प्रश्न करने की क्षमता होती है, वह विद्यार्थी प्रतिभावान होता है। जो सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है, उसे प्रश्न पूछने की जरूरत नहीं होती अथवा जो नासमझ है, कुछ समझता ही नहीं है, वह व्यक्ति भी प्रश्न नहीं करता। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनमें समझ शक्ति होती है किन्तु संकोच या किसी अन्य कारण से प्रश्न नहीं पूछते। ज्ञान विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, प्रश्न करना। श्रीमद् भागवद्गीता में कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले गुरु को प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, उनसे प्रश्न पूछो, तब वे तत्त्वदर्शी और ज्ञानी गुरु तुम्हें उपदेश देंगे, ज्ञान देंगे। प्रश्न हो सकता है कि प्रश्न करने से क्या लाभ है? प्रश्न करने से गुरु विस्तार

और स्पष्टता के साथ बात को बताने का प्रयास करेंगे। परिणाम यह आएगा कि गुरु से अधिक ज्ञान मिल सकेगा और विषय की स्पष्टता हो सकेगी। ज्ञान की प्राप्ति में जहां कहीं कमी रह जाती है, उसको भरने का काम प्रश्न करता है। सुन्दर कहा गया है—**जिज्ञासा ज्ञानजननी।**

जिज्ञासा ज्ञान को पैदा करने वाली होती है। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'ज्ञानस् अवबोधने' धातु के साथ सन् प्रत्यय का योग होने पर 'जिज्ञासा' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी व्युत्पत्ति की जाती है—**ज्ञातुं इच्छा इति जिज्ञासा** यानी जानने की इच्छा रखना जिज्ञासा है। जिज्ञासा रखने वाला आदमी जिज्ञासु कहलाता है। जिसमें जिज्ञासा नहीं होती, वह कितना और क्या जान पाएगा। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति** संशय के बिना आदमी कल्याण को नहीं देखता और ज्ञान की विशिष्ट भूमिका को प्राप्त नहीं होता। यहां संशय शब्द का अर्थ है जिज्ञासा। विद्यार्थी अध्यापक के पास पढ़ता है। उसे जहां-जहां विषय की अस्पष्टता हो, वहां जिज्ञासा करे, प्रश्न उठाए, चालना करे। जैन अध्ययन पद्धति में एक शब्द आता है चालना। अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया के छह अंग हैं—

संहिता च पदञ्चैव, पदार्थः पदविग्रहः।
चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्यातंत्रस्य षड्विधम्।।

सबसे पहले उच्चारण करना, फिर पदों की गणना करना, पदों का विग्रह करना, प्रश्न उठाना और समाधान देना, यह एक अध्ययन-अध्यापन की पूरी प्रक्रिया हो जाती है। विद्यार्थी प्रश्न करे और गुरु समाधान दे। कभी इसका विलोम भी होना चाहिए। गुरु प्रश्न करे और विद्यार्थी जवाब दे। विद्यालयों में अध्यापक प्रश्न पूछते हैं और शिक्षार्थी उत्तर देते हैं। वे प्रश्न भी शिक्षार्थियों के ज्ञान को मजबूत बनाने के लिए और विकसित करने के लिए किए जाते हैं। दोनों ओर से प्रश्नोत्तर करने पर विषय अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। हम आगम साहित्य को देखें। 'विआहपण्णत्ती' जैसे विशालकाय ग्रंथ में प्रायः प्रश्नोत्तर का क्रम चलता है। उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में भी प्रश्नों का क्रम है। सत्तर से भी अधिक प्रश्न पूछे गए हैं और उनके उत्तर दिए गए हैं। आदमी को पृच्छक बना रहना चाहिए। क्योंकि पूछते-पूछते आदमी कहां से कहां पहुंच जाता है। इसलिए प्रश्न करने की विधा को अपनाना चाहिए, जिससे ज्ञान का और अच्छा विकास हो सके। हां, प्रश्न एकमात्र ज्ञान-

विकास के लिए ही करना चाहिए, किसी अन्यथा भाव से नहीं और बहुत विनम्रता के साथ प्रश्न पूछना चाहिए। गुरु और शिष्य का ज्ञानात्मक संबंध होता है। उपनिषद साहित्य में कहा गया है—

सह नाववतु सह भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्वषावहै।।

हमारी साथ-साथ रक्षा हो, परिपालना हो। हम साथ-साथ पुरुषार्थ करें। हमारा ज्ञान तेजस्वी बने। विद्यार्थी और शिक्षक में परस्पर विद्वेष का भाव प्रकट न हो। विनय और वात्सल्य का संबंध बना रहे। इस क्रम के साथ प्रश्न और उत्तर का उपक्रम चलता रहे तो वह उपक्रम ज्ञान को बढ़ाने वाला होता है। जिसका ज्ञान अविकसित रह जाता है, उसे अध्यात्म के क्षेत्र में भी कठिनाई हो सकती है और व्यावहारिक दुनिया में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

एक ग्रामीण व्यक्ति किसी शहर में होटल में गया। उसका पहली बार किसी होटल में जाने और रहने का काम पड़ा। वह रात्रि में जिस कमरे में था, उसमें बल्ब जल रहा था। सूर्योदय के बाद उसने सोचा कि अब दीए को बुझा देना चाहिए। वह बल्ब के पास गया और फूंक मारने लगा, किन्तु वह बुझा नहीं। उसने सोचा—हमारे गांव के दीए कितने अच्छे होते हैं, एक बार फूंक मारने से ही बुझ जाते हैं। ये शहरी दीए कितने जिद्दी होते हैं, कितनी बार फूंक मार दी फिर भी बुझा नहीं। उस ग्रामीण को यह ज्ञान नहीं था कि यह दीया नहीं, बल्ब है और बुझाने के लिए फूंक मारने की जरूरत नहीं होती, स्विच ऑफ करने की जरूरत है। शिक्षा एक वह माध्यम है, जिसके द्वारा आदमी के अज्ञान का तिमिर विनष्ट होता है और वह ज्ञानवान् बन जाता है।

हमारे धर्मसंघ में भी यदा-कदा प्रश्नोत्तर का क्रम चलता है। ज्ञान को बढ़ाने के लिए कई बार गुरु बड़े साधु-साध्वियां छोटे साधु-साध्वियों को प्रश्न पूछते हैं और उन्हें उत्तर देने के लिए कहा जाता है। यदि उन्हें उत्तर नहीं आता है तो पुनः गुरु आदि के द्वारा उत्तर दिया जाता है, जिससे अनेकों को ज्ञान हो जाता है। प्रश्न एक से पूछा जाता है और ज्ञान अनेकों को मिल जाता है। यह प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया एक सुन्दर विधा है।

शास्त्रकार ने कहा कि प्रतिप्रश्न के द्वारा सूत्र, अर्थ विशुद्ध बनते हैं। क्योंकि मन में जो शंका होती है, प्रश्न होता है, उसे किसी से पूछा नहीं और

जवाब भी नहीं मिला यानी हमारे ज्ञान में थोड़ी दुर्बलता रह गयी। यदि हमने पूछ लिया और गुरु आदि से समाधान मिल गया तो हमारी अवधारणा स्पष्ट हो सकती है। इसलिए ज्ञान को विशुद्ध बनाने के लिए सूत्र को सही समझें, उसके अर्थ को सही समझें और दोनों को सही समझने के लिए यदा-कदा प्रश्न भी करने चाहिए। योग्य विद्यार्थी वह होता है जिसमें समुचित प्रश्न करने की क्षमता होती है और ऐसे समाधायक गुरु भी सामने हों जो सही प्रश्न का सही उत्तर दे सकें। प्रश्न करने वाला तो स्वतंत्र होता है। वह किसी भी प्रकार का प्रश्न पूछ सकता है किन्तु उत्तर देने वाला उस जिज्ञासा के साथ प्रतिबद्ध होता है। उसको उसी जिज्ञासा का उत्तर देना होता है। एक प्रकार से विद्यार्थी अपने गुरु को बांध लेता है।

जैन परम्परा में सूत्र पढ़ाने का कार्य उपाध्याय के लिए बताया गया है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि सूत्र आदि का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। यदि उच्चारण ठीक नहीं होता है तो ज्ञान में एक कमी रह जाती है। इसलिए व्याकरण का ज्ञान अच्छा हो। व्याकरण का ज्ञान होने से यह पता चल जाता है कि कहां उच्चारण अशुद्ध हो रहा है। सूत्र का अर्थ कराने का जिम्मा आचार्य/गुरु का होता है। गुरु और शिष्य का पवित्र संबंध होता है। अच्छे गुरु और अच्छे शिष्य का योग होने से ज्ञान का सम्यक् विकास हो सकता है।

२१

परिवर्तना से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**परियट्टणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! परिवर्तन करने से जीव को क्या मिलता है? उत्तर दिया गया—**परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ।** परिवर्तन करने से वह व्यंजन को प्राप्त करता है। स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि को प्राप्त कर लेता है।

स्वाध्याय और अध्ययन के विभिन्न प्रकारों में एक प्रकार है परिवर्तना। प्राचीन काल में कंठस्थ ज्ञान की अच्छी परम्परा थी। कितना-कितना ज्ञान साधकों के कण्ठ में स्थित रहता था, स्मृति में रहता था। ज्ञान को स्मृति में रखने का एक सशक्त उपाय है परिवर्तना। आज भी साधु-परम्परा में ज्ञान को कण्ठस्थ करने की विधा है। हालांकि इसमें कुछ कमी तो आई है क्योंकि जब इतनी पुस्तकें सुलभ हैं तो फिर दिमाग में भार क्यों रखा जाए। मैं यदा-कदा देखता हूं कि साधु-साध्वियां जब गीत आदि गाते हैं तो डायरी उनके हाथ में रहती है। स्वाध्याय-परिवर्तना करते हैं तब भी पुस्तिका कइयों के पास रहती है। जिस प्रकार वृद्ध आदमी को गेडिया अथवा लकड़ी का सहारा चाहिए, उसके बिना चलना मुश्किल होता है। उसी प्रकार कुछ साधु-साध्वियों, समणियों को भी स्वाध्याय के समय डायरी, पुस्तिका आदि का सहारा चाहिए। वे इसके सहारे अपना काम चलाते हैं। यह गेडिया उन्हें युवावस्था में ही मिल जाता है। संभवतः लिपिकला के विकास ने और पुस्तकों की सुलभता ने इस प्रथा को

जन्म दिया है और आगे बढ़ाया है। पहले रात्रि में प्रायः अंधकार होता था इसलिए रात्रि में पुस्तकों का उपयोग नहीं होता था। आजकल प्रायः प्रकाश सुलभ हो जाता है इसलिए पुस्तकों का उपयोग भी आसानी से हो सकता है। प्राचीन काल में हमारे साधु-साध्वियां और आचार्य भी रात्रि में जैन रामायण का व्याख्यान करते तो पहले उसे कंठस्थ करते थे, किन्तु आज उसमें भी अन्तर आया है। आजकल प्रायः हस्तलिखित पन्नों या पुस्तकों का सहारा लिया जाता है। संभवतः कुछ जीवनशैली भी ऐसी बन गई, कार्य इतने बढ़ गए कि कंठस्थ करने के लिए उतना समय भी नहीं मिलता है।

प्राचीन काल में ज्ञान को कंठस्थ करने और उसे चितारना यानी परिवर्तना करने की सुन्दर विधा थी। आज भी मेरा मंतव्य है कि कुछ ग्रंथ हमें कंठस्थ रखने चाहिए। वे ग्रंथ कंठस्थ रह सकें, ऐसा पराक्रम करना चाहिए। दसवेआलियं एक सुन्दर आगम है, जिसमें दिशा-निर्देश दिया गया है कि साधु को कैसे चलना चाहिए, कैसे भिक्षा करनी चाहिए, कैसे आहार करना चाहिए, कैसे बात करनी चाहिए, कैसे मानसिक विचलन की स्थिति में चिन्तन करना चाहिए आदि-आदि सुन्दर पथ दर्शन के सूत्र दिए गए हैं। उत्तराध्ययन भी बहुत रोचक आगम है, जिसके आधार पर मैं यदा-कदा वक्तव्य दिया करता हूं। उसमें तत्त्वविद्या निहित है, व्यवहार के सूत्र हैं, वैराग्यपूर्ण कथाएं हैं, सुन्दर प्रश्नोत्तर हैं और अध्यात्मविद्या का उसमें सुन्दर पथदर्शन है। ये आगम हमें संपूर्ण रूप से कंठस्थ हों तो बहुत अच्छी बात है। यदि सम्पूर्ण कंठस्थ न हो सकें तो कुछ अध्ययन याद कर लें। फिर उनका स्वाध्याय करते रहें। केवल पाठ ही उच्चरित न करें, हमें उसका अर्थबोध भी हो। फिर अनुप्रेक्षा करें, चिन्तन-मनन करें तो कितना आध्यात्मिक आनन्द मिलेगा, कितना संयम को पोषण मिलेगा और कितना कर्म निर्जरा का अवसर मिलेगा।

ज्ञान को कंठस्थ रखने के लिए परिवर्तना करना आवश्यक है। अभ्यास के बिना ज्ञान कंठस्थ नहीं रह सकता। गुरु ने अपने शिष्य से कहा—वत्स! मैं कुछ प्रश्न पूछूंगा, तुम्हें उनका जवाब देना है। एक बात का ध्यान रखना, मैं जितने भी प्रश्न पूछूं, उन सबका जवाब एक होना चाहिए। यानी प्रश्न अनेक, जवाब एक। शिष्य ने कहा—गुरुदेव! आप फरमाइए कौनसे प्रश्न हैं? गुरु ने काव्य की भाषा में पूछा—

पान सड़ै घोड़ो अड़ै, विद्या बिसर जाय।
रोट जलै अंगार पर, कहो चेला किण न्याय।।

वत्स! पान सड़ते क्यों हैं, घोड़ा अच्छी तरह क्यों नहीं चल सकता, वह रुक क्यों जाता है, विद्या विस्मृत क्यों हो जाती है, रोटी अंगारे पर क्यों जल जाती है? इन सबका उत्तर एक क्या है? शिष्य बहुत चतुर, बुद्धिमान और समझदार था। उसने कहा—गुरुदेव! इन सबका उत्तर एक है—फेरा नहीं यानी परिवर्तना नहीं की। पान की परिवर्तना की जाती तो सड़ते नहीं। वे पड़े-पड़े खराब हो गए। घोड़े को फिराया/घुमाया जाता तो उसका अभ्यास बना रहता। घुमाने का क्रम नहीं रहने से उसमें चलने का अभ्यास स्थगित हो गया। रोटी को अंगारे पर बदला जाता तो ठीक हो जाती। एक ही तरफ पड़ी रहने से वह जल गई। इसी प्रकार विद्या को भी फेरा जाए यानी बार-बार उसका पुनरावर्तन किया जाए तो वह स्मृतिगत रहती है अन्यथा विद्या भी विस्मृतिगत हो जाती है।

ज्ञान को पक्का रखने के लिए परिवर्तना की जरूरत है और परिवर्तना को नियमित और ठीक रखने के लिए अपेक्षा है कि हमारे उठने का समय ठीक हो यानी जल्दी उठने का अभ्यास होना चाहिए। सर्दी के मौसम में उठने में थोड़ी तकलीफ हो सकती है। सर्दी लग सकती है किन्तु सर्दी का भी थोड़ा सामना करें। सर्दी उसको ज्यादा सताती है जो सर्दी से घबराता है, डरता है। जो सर्दी का सामना करता है, उससे सर्दी दूर भागने लगती है। हम स्थितियों से डरे नहीं। अपना करणीय कार्य यथासंभव सम्पन्न करने का प्रयास करें। अगर हम यह नित्यक्रम बना लें कि चाहे कोई भी मौसम क्यों न हो, आमतौर से चार बजे जागना है तो फिर वह समय स्वाध्याय के लिए मिल जाता है। शीतकाल की लम्बी रात्रियों में यदि चार बजे जागरण हो जाए तो लगभग सवा दो घण्टे का समय मिल सकता है। वह समय स्वाध्याय में बीते, परिवर्तना में बीते, जप में बीते, ध्यान में बीते तो समय कितना सार्थक हो जाएगा।

शास्त्रकार ने कहा है कि परिवर्तना से व्यंजन लब्धि उत्पन्न हो जाती है। जो व्यक्ति ध्यान से पाठ का उच्चारण करता है और साथ में अर्थ की गहराई में भी जाता है, उसमें प्रज्ञा का कुछ विकास हो सकता है और चिन्तन करते-करते कोई नई बात भी ध्यान में आ सकती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने सरस्वती की साधना की। वे विभिन्न दायित्वों से प्रतिबद्ध होने के बावजूद भी स्वाध्याय में

समय लगाते और कुछ नया प्राप्त करने का प्रयास करते। ज्ञान अनन्त हैं। कितना ही ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद भी आदमी और कुछ पाने का प्रयास करे, यह जिज्ञासा वृत्ति अपने आपमें स्तुत्य है।

परिवर्तना के समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि हमारा उच्चारण शुद्ध हो, धीरे-धीरे बोलें, स्पष्ट बोलें और विराम लेकर बोलें। स्वाध्याय में बहुत तेज रफ्तार वाली गाड़ी न चलाएं, गति थोड़ी मंद हो। मैं कई बार साधुओं को स्वाध्याय करते देखता हूं तब लगता है कि काफी जल्दी-जल्दी पाठ उच्चरित करते हैं। पाठ का जल्दी-जल्दी उच्चारण करने से अनेक पाठों का एक साथ मिलने की संभावना रहती है। जिससे ज्ञान के अतिचार की स्थिति बन सकती है और विशुद्ध ज्ञान में बाधा भी आ सकती है। स्वाध्याय के लिए अवस्था का भी कुछ महत्त्व होता है। कुछ कारणों से हर कोई स्वाध्याय न भी कर सके, किन्तु अध्यवसाय हो तो स्वाध्याय-परिवर्तना हो सकती है। बाल-मुनियों के लिए तो परिवर्तना करना विशेष आवश्यक है। एक बुढ़िया मूंज की डोरी बंट रही थी। वह प्रज्ञाचक्षु थी। उस समय एक पाडा (भैंस का बच्चा) पास में खड़ा हो गया। बुढ़िया जैसे-जैसे डोरी बंटकर पीछे डाल रही थी, पाडा उसे खाता गया। बुढ़िया का सारा श्रम उस पाडे के काम आ गया। परिवर्तना नहीं करने से विस्मृति का पाडा ज्ञान को खा सकता है। इसलिए हम सावधान रहें कि कभी विस्मृति का पाडा हमारे ज्ञान को खा न जाए।

मेरा अनुमान है कि जो साधक जीवन पर्यन्त यानी वर्षों तक प्रतिदिन एक श्रुत सामायिक करता है। उसमें चिन्तन-मनन के साथ आगम अथवा आगम तुल्य ग्रंथों को अच्छी तरह पढ़ता है और उसका अर्थ समझ लेता है तो उस स्वाध्याय मात्र से कम-से-कम उसका एक जन्म तो कम हो जाएगा और मोक्ष कुछ निकट हो जाएगा। स्वाध्याय करने से कभी-कभी ऐसी प्रेरणा मिलती है जो जीवन की दिशा और दशा को बदलने वाली होती है। जैन परम्परा में एक महान आचार्य वृद्धवादी हुए हैं। उनका पहले नाम था मुनि मुकुन्द। वे ब्राह्मण वंश के थे। वृद्धावस्था में वैराग्य भाव जगा और अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल के पास जैन मुनि दीक्षा स्वीकार कर ली। नवदीक्षित वृद्ध मुनि मुकुन्द में ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कंठा थी। वे प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद भी उच्चस्वर से ज्ञान की परिवर्तना-स्वाध्याय करते। एक दिन गुरु ने मुनि मुकुन्द से कहा—वत्स! तुम उच्चस्वर से रात्रि में स्वाध्याय करते हो, इससे अन्य साधुओं

की नींद में बाधा पहुंचती है। यह अन्तराय कर्म बंध का कारण बन सकता है और हिंसक प्राणी भी जाग सकते हैं। इससे अनर्थ की संभावना भी हो सकती है। इसलिए तुम ध्यान दो। मुनि मुकुन्द ने गुरु से प्रशिक्षण प्राप्त कर दिन में स्वाध्याय करना प्रारंभ कर दिया। वृद्धावस्था में भी ज्ञानाराधना के प्रति इतनी लगन व निष्ठा को देख किसी श्रावक ने कहा—मुनिवर! इस वृद्धावस्था में इतना स्वाध्याय करके क्या मूसल में फूल लगाओगे? यह बात मुनि मुकुन्द के हृदय में चुभ गई। उन्होंने उस चुनौती को स्वीकार कर लिया। मुनिजी ने ब्राह्मी विद्या की आराधना में इक्कीस दिन का तप किया, साधना की। देवी प्रसन्न होकर प्रकट हुई और बोली—**सर्वविद्यासिद्धो भव।** मुनि मुकुन्द दैविक वरदान प्राप्त कर विद्या संपन्न बन गए। फिर चौराहे पर बैठ सबके सामने मूसल को धरती में थमा, मुनि मुकुन्द बोले—

अस्मादृशा अपि यदा भारति! त्वत्प्रसादतः।
भवेयुर्वादिनां प्राज्ञा मुसलं पुष्यतां ततः।।

भारती! तुम्हारी कृपा से मेरे जैसे व्यक्ति भी वादीजनों में प्राज्ञ का स्थान प्राप्त कर सकते हैं तो अब मूसल के फूल लगा दो। यह कहकर मुनिजी ने अचित्त जल का सिंचन किया और उपरि लिखित श्लोक बोला। तत्काल मूसल (ठूंठ) के फूल लग गए। यह अध्यवसाय की बात है।

हमारे धर्मसंघ में ज्ञान का अध्यवसाय है, किन्तु उसे विकसित करने की अपेक्षा है। हमारे साधु-साध्वियां, समण-समणियां ज्ञान के आराधक बनें, विद्वान लोग तैयार हों, मनीषी तैयार हों और वे अपने ज्ञान को विभिन्न भाषाओं के माध्यम से लोगों तक पहुंचाएं। शास्त्रकार ने कहा है कि ज्ञान करते-करते ऐसी शक्ति प्राप्त हो सकती है कि एक पद्य को पढ़ने से अनेक पद्यों का ज्ञान हो सकता है। पुस्तक का एक पृष्ठ पढ़ने से उस पुस्तक में क्या बात है उसका अनुमान हो सकता है। थोड़ा-सा पढ़ने से अधिक ज्ञान प्राप्त हो जाए, ऐसी अनेक शक्तियां हैं, लब्धियां हैं। ज्ञान एक ऐसा परम तत्त्व है जिसके समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान का सार आचार है। जिसके पास सम्यक् ज्ञान नहीं है, उसके पास सम्यक् आचार कैसे और कितना आ पाएगा? यदि ज्ञान सम्यक् है तो सम्यक् आचार की प्राप्ति हो सकती है।

मैं समणीवृंद को गुरुदेव तुलसी द्वारा विरचित 'पञ्चसूत्रम्' नामक ग्रंथ पढ़ा रहा था। उसमें कहा गया—**सेवा ज्ञानफलं महत्।** मैं वहां रुक गया और

सोचने लगा कि सेवा ज्ञान का फल कैसे होता है? चिन्तन करने पर मुझे लगा कि जैसे ज्ञान का सार आचार है वैसे ही ज्ञान का सार सेवा भी है। क्योंकि जब व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि सेवा करने से निर्जरा होती है तब वह सेवा में संलग्न बनता है। ज्ञान एक वृक्ष है। उसके अनेक फल लगते हैं। फल प्राप्ति के लिए हम ज्ञान की परिवर्तना करते रहें, उसकी आराधना करते रहें।

२२

अनुप्रेक्षा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**अणुप्पेहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! अनुप्रेक्षा से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधण-बद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ।** अनुप्रेक्षा से वह आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़ बंधन से बंधी हुई प्रकृतियों को शिथिल बन्धन वाली कर देता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन कर देता है। उनके तीव्र अनुभाव को मंद अनुभाव कर देता है। उनके बहु-प्रदेशाग्र को अल्प प्रदेशाग्र में बदल देता है। आयुष्य कर्म का बंध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असातवेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनन्त लम्बे मार्ग वाली तथा चतुर्गति रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।

स्वाध्याय के पांच प्रकारों में एक प्रकार है—अनुप्रेक्षा। यह एक चिन्तन मनन की दृष्टि है। चिन्तन करने से ज्ञान स्पष्ट होता है। आदमी पहले सुने, मनन करे और गहराई से चिन्तन करे तो कुछ नवनीत मिल सकता है, रत्न प्राप्त

हो सकता है। प्रज्ञापुरुष जयाचार्य अपने उत्तराधिकारी मघवा से कहते—मघजी! आज उत्तराध्ययन का स्वाध्याय करते-करते मुझे एक नया रत्न मिला है। स्वाध्याय करना, पुनरावर्तन करना अच्छा है परन्तु पुनरावर्तन के साथ अनुप्रेक्षा का अभ्यास जुड़ जाता है तो उस पुनरावर्तन का विशेष महत्त्व हो जाता है। अनुप्रेक्षा एक वह तत्त्व है जो गहराई तक जाने में सहायक बनता है। अनुप्रेक्षा से पूर्व मूल बात को समझना, सुनना और पढ़ना आवश्यक होता है। एक मूर्तिकार ने तीन मूर्तियां बनाईं। तीनों का आकार प्रायः समान था। किन्तु कुछ अन्तर भी था। एक मूर्ति के दोनों कान बंद थे। दूसरी मूर्ति के दोनों कान खुले थे, आरपार थे। तीसरी मूर्ति के दोनों कान खुले थे किन्तु आरपार नहीं थे। पहली मूर्ति के कान में तिनका डालने की कोशिश की तो वह अन्दर गया ही नहीं। दूसरी के कान में तिनका डाला तो उधर से निकल गया। तीसरी मूर्ति के कान में तिनका डाला, वह भीतर चला गया। तीन मूर्तियों के माध्यम से एक शिक्षा दी गई है कि श्रोता के तीन प्रकार हैं। एक श्रोता वह होता है जो बात को ध्यान से सुनता नहीं है, मानो उसके कान बंद रहते हैं। दूसरे प्रकार का श्रोता बात को एक कान से सुनता है और दूसरे कान से निकाल देता है यानी सुनी अनसुनी कर देता है। तीसरे प्रकार का श्रोता बात को ध्यान से सुनता है और उसको भीतर तक ले जाता है। फिर उस पर चिन्तन करता है, अनुप्रेक्षा करता है। जिससे ज्ञान स्पष्ट होता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा विषय की स्पष्टता को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान साधना में अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। उनमें एक प्रयोग है अनुप्रेक्षा का। अभय, सामंजस्य, मैत्री, सहिष्णुता आदि की अनेक अनुप्रेक्षाएं हैं। अपनी दुर्वृत्ति का परिष्कार करने के लिए ऑटो सजेशन के रूप में अनुप्रेक्षा कराई जाती है और उस दुर्वृत्ति से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया जाता है। वृत्ति परिष्कार के लिए अनुप्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वाध्याय योग में भी अनुप्रेक्षा का बड़ा स्थान है। हम मूलपाठ पढ़ें। उसका अनुवाद करें, साथ में चिन्तन मंथन भी करें, टिप्पण भी देखें और फिर तर्क शक्ति का प्रयोग करें कि अमुक बात इस प्रकार क्यों कही? इसके पीछे कारण क्या है? आदि प्रश्नों के उत्तर गहराई में जाने से मिल सकते हैं अथवा कुछ विशेष प्राप्त हो सकता है। आचार्य भिक्षु के पास ऐसी ही प्रज्ञा, प्रतिभा प्रतीत होती है। उनमें तार्किकपन भी था और अनुप्रेक्षा का बल भी था। उन्होंने तत्त्वों का निचोड़ निकाला,

आगम का मंथन किया और कितनी कर्म निर्जरा कर ली। आगम आदि की गहराई में जाते हैं तो हमारे कर्म भी प्रकंपित हो जाते हैं और वे झड़ने की स्थिति में आ जाते हैं। जो प्रगाढ़ कर्म हैं, वे मंदता की स्थिति में आ जाते हैं। जो प्रलम्बकालीन हैं वे अल्पकालीन बन जाते हैं। अनुप्रेक्षा का अभ्यास हो जाए तो अनेक ग्रंथ आत्मसात् हो सकते हैं। विभिन्न ग्रंथों का अध्ययन और आगम अनुसंधान कार्यों में अनेक ग्रंथों का उपयोग अनुप्रेक्षा से सहज होता है। अनेक ग्रंथों का अध्ययन होने से बात में संगति बिठाने में भी सहायता मिलती है और लेखन में भी निखार आ जाता है।

हम प्रतिक्रमण सूत्र की अनुप्रेक्षा करें। उसको भी आत्मसात् करने का प्रयास करें तो प्रतिक्रमण करते-करते भी एक शुद्धिकरण का मौका मिलेगा। अपने दोषों को देखने का, अपने दोषों की प्रेक्षा करने का अवसर मिलेगा। आगम जैसे ठोस ग्रंथों का स्वाध्याय किया जाए और अनुप्रेक्षा यानी गंभीरता से चिन्तन मनन किया जाए तो कुछ नए तथ्य सामने आ सकते हैं। भारतीय साहित्य का संस्कृत, प्राकृत और पाली भाषा में खजाना भरा पड़ा है। हालांकि वर्तमान में संस्कृत, प्राकृत आदि को जानने वाले लोग कम हैं क्योंकि आज अंग्रेजी भाषा का अधिक महत्त्व है। भाषाओं का अच्छा ज्ञान हो तो ज्ञान को अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है और साथ में अनुप्रेक्षा का अभ्यास हो तो कई रहस्य उद्घाटित हो सकते हैं। स्वाध्याय करते-करते व्यक्ति एकाग्र बन जाता है और ध्यान में भी चला जाता है। वह आंख मूंदकर ध्यान न भी करे किन्तु पढ़ते-पढ़ते वह इतना गहराई में चला जाता है कि वह अपने आप ध्यानलीन हो जाता है। जो ज्ञान रसिक है, स्वाध्याय में लगा हुआ है और जिसमें अध्यात्मविद्या के प्रति आकर्षण है तो वह स्वाध्याय व अनुप्रेक्षा करते-करते भारी कर्म निर्जरा कर लेता है और उसका ज्ञान भी विकसित हो जाता है। अनुप्रेक्षा ज्ञान को बढ़ाने में सहायक बनती है। सम्यक् दृष्टि व्यक्ति अनुप्रेक्षा युक्त तत्त्व को ग्रहण करता है तो सम्यक् दृष्टि को भी पुष्ट होने का मौका मिलता है और चतुर्गति रूप संसार-अटवी को पार करने में सफल हो सकता है।

२३

धर्मकथा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया–**धम्मकहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! धर्मकथा से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया–**धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावे णं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।** धर्मकथा से वह कर्मों को क्षीण करता है और प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।

स्वाध्याय के पाचं प्रकारों में एक प्रकार है–धर्मकथा। आदमी अध्ययन करे, ज्ञान प्राप्त करे। प्राप्त ज्ञान को दूसरों को देने का प्रयास करे। दूसरों को ज्ञान बांटने का एक सशक्त माध्यम है–धर्मकथा। प्रवचन, व्याख्यान आदि के माध्यम से अनेक लोगों को ज्ञान दान दिया जा सकता है। जो साधु गुफावासी है, एकान्तवासी है, प्रायः मौन, ध्यान में रहने वाला है, उससे प्रवचन या धर्मकथा की अपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु जो साधु समाज के व्यवहार में जीने वाला है उसे यथा अवसर यथा अपेक्षा धर्मोपदेश करना चाहिए। शास्त्रकार ने धर्मकथा का पहला लाभ बताया है कि कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मकथा करने से पापकर्म कटते हैं। दूसरों को लाभ मिले या न मिले किन्तु उसे लाभ अवश्य मिल जाएगा। संस्कृत साहित्य में बताया गया है–

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।।

श्रोता को धर्म का लाभ मिले या न मिले किन्तु वक्ता यदि अनुग्रह की भावना से धर्मोपदेश करता है तो उसे लाभ अवश्य मिल जाता है। पता नहीं श्रोता का दृष्टिकोण कैसा होता है? वह किस भावना से श्रोतृधर्म परिषद् में आकर बैठता है? अपवित्र उद्देश्य से भी कोई धर्म परिषद् में आकर बैठ सकता है। हमारे साथ काफी लोग रहते हैं। उनमें कभी कोई जेबकतरा भी साथ हो जाता है। उसका उद्देश्य धर्मकथा को सुनना नहीं होता, साधुओं की सेवा करना नहीं होता है। उसका उद्देश्य तो मौका प्राप्त कर किसी की जेब काटना और रुपये प्राप्त करना होता है। तात्पर्य यह है कि श्रोता को लाभ हो या न हो किन्तु वक्ता यदि अनुग्रह की भावना से धर्मकथा करता है तो उसके कर्मों की निर्जरा अवश्य होती है।

धर्मकथा का दूसरा लाभ बताया गया है कि धर्मोपदेश करने से प्रवचन की प्रभावना होती है। उसके साथ-साथ स्वयं के भविष्य के लिए कल्याणकारी और पुण्यकर्मों का बंधन करता है जिसका फल भविष्य में अच्छा होता है। इसलिए धर्मकथा करने में आलस्य नहीं करना चाहिए। श्रम की परवाह किए बिना साधु को धर्मोपदेश करना चाहिए जिससे स्वयं का भी हित हो, निर्जरा हो और दूसरों को भी लाभ मिल सके। अच्छे वक्ता के लिए जरूरी है कि समय की नियमितता रहे। जो समय दिया जाए लगभग उसी समय कार्यक्रम प्रारंभ हो जाए और ठीक समय पर कार्यक्रम संपन्न भी हो जाए। इससे श्रोता को भी सुविधा रहती है और वक्ता को भी सुविधा रहती है। इसके साथ-साथ वक्ता पर बहुत बड़ा जिम्मा रहता है। उसे पूर्व तैयारी के साथ परिषद् के बीच पहुंचना चाहिए। जो वक्ता बिना तैयारी के ही बोलना शुरू कर देता है वह पता नहीं श्रोतृ परिषद् के साथ पूरा न्याय कर पाता है या नहीं? अच्छे वक्तृत्व के लिए अपेक्षित है कि वक्ता को बाहुश्रोत्य का विकास करना चाहिए। उसे अध्ययन करते रहना चाहिए। वक्ता के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह नाम, ख्याति और प्रशंसा की भावना से नहीं मात्र परोपकार की भावना से और आत्मोपकार की भावना से वक्तव्य प्रस्तुत करे। इन आधारों पर धर्मकथा होती है तो उसका ठोस परिणाम आ सकता है। साधुओं के सान्निध्य में हजारों लोग धर्मकथा श्रवण के लिए उपस्थित होते हैं। यदि श्रोताओं का उद्देश्य पवित्र होता है तो उन्हें भी कई लाभ होते हैं। पहला लाभ है, यदि कोई व्यक्ति एक घण्टा धर्मकथा सुनता है तो वह उस एक घण्टे तक कितने पापों से बच जाता है। उस

समय अगर वह घर या बाजार आदि में होता तो सावद्य काम कर सकता था किन्तु प्रवचन श्रवण के कारण विभिन्न पापों से सहज बचाव हो जाता है। दूसरा लाभ है, विद्वान वक्ता को सुनने से जानकारियां बढ़ सकती हैं अथवा जानकारियां पुष्ट हो सकती हैं। तीसरा लाभ है, कैसे बोलना, भाषा का शुद्ध प्रयोग कैसे करना आदि बातों का ज्ञान हो सकता है। चौथा लाभ है, सुनते सुनते कभी ऐसी बात सुनने को मिल जाती है जिससे व्यक्तिगत समस्या का समाधान हो सकता है। पांचवां लाभ है, धर्मकथा श्रवण करने से कभी कभी भीतर में इतना संवेग जाग जाता है, वैराग्य भाव जाग जाता है जिससे आदमी पापों से दूर हो जाता है और उसके जीवन में परिष्कार घटित हो जाता है। उसका जीवन संयम युक्त बन जाता है, अच्छा बन जाता है।

धर्मकथा को श्रोता भी जागरूकता से सुने, यह वांछनीय होता है। जो श्रोता परिषद में आकर भी ध्यान से नहीं सुनता, मन और कहीं पर लगा रहता है तो धर्मकथा श्रवण से होने वाले लाभ में कुछ कभी रह सकती है। एक संन्यासी रामायण का वाचन किया करता था। चार मास तक रामायण का आख्यान बांचा। रामायण की संपन्नता के दिन एक श्रोता खड़ा हुआ और बोला—महात्मन्! मैं आपका प्रेमी श्रोता हूं। मैं प्रतिदिन रामायण सुनता था। मेरी एक जिज्ञासा है। आप उसका समाधान करें।

संन्यासी ने कहा—पूछो, तुम्हें क्या पूछना है?

श्रोता ने कहा—महात्मन्! मुझे यह बताएं कि राक्षस कौन था, राम या रावण?

संन्यासी भी मूड में था, बोला—राक्षस न राम था और न रावण था। राक्षस या तो तूं है या मैं हूं। चार मास तक रामायण सुनने के बाद भी यह नहीं जान पाए कि राक्षस कौन था। तुम जैसे श्रोताओं को सुनाकर मैंने इतना समय व्यर्थ गंवा दिया।

श्रोता ध्यान से सुनने और बात को समझने का प्रयत्न करे। धर्मकथा हजारों व्यक्तियों के बीच भी हो सकती है, कुछ व्यक्तियों के बीच में भी हो सकती है और व्यक्तिगत वार्तालाप के माध्यम से भी हो सकती है। महामना आचार्य भिक्षु ने धर्मकथा के माध्यम से कितने-कितने लोगों को संबोध देने का प्रयास किया। मैंने गणाधिपति गुरुदेव तुलसी को देखा। वे धर्मकथा के माध्यम

से ज्ञान देने का प्रयास करते थे। प्रवचन करना तो उनका प्रायः नित्यक्रम था। वे दिन में भी प्रवचन करते थे और रात्रि में भी करते थे। उन्होंने लम्बे काल तक धर्मकथी का दायित्व निभाया। पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी धर्मकथी थे, जिनके पास चिन्तन था, अनुभव था, वाणी की लक्ष्मी थी और उसके साथ-साथ संयम, साधना का योग था। ऐसा धर्मकथी जब धर्मकथा करता है, प्रवचन करता है, उसकी वाणी का अपना प्रभाव होता है। उससे अनेक लोगों को जानकारियां मिलती है। अनेक लोगों की समस्याओं का समाधान हो जाता है।

धर्मकथा करने वालों में कुछ क्षमताओं का विकास हो, ज्ञान का विकास हो, साधना का विकास हो और प्रवचन शैली का भी विकास हो। एक बार आचार्य महाप्रज्ञजी ने हमारी अंतरंग परिषद में कहा था कि ऐसे साधु-साध्वियों का निर्माण होना चाहिए जो अच्छे वक्ता हों और अपने प्रवचन अथवा भाषण के माध्यम से जनता पर प्रभाव छोड़ सकें। हमारे धर्मसंघ में कुछ-कुछ व्यक्ति आज भी हैं जिनके वक्तृत्व में दम है। वे अपने वक्तृत्व के द्वारा जनता को प्रभावित भी करते हैं। लोगों में यह आकर्षण रहता है कि अमुक अमुक साधु-साध्वियों के व्याख्यान में तो हमें जाना ही है। धर्मकथा करने वाला व्यक्ति गंभीर ज्ञान का विकास करे। जिसका ज्ञान गंभीर होता है उसका असर उसके वक्तृत्व में भी आ जाता है। जिसमें अध्ययन का विकास नहीं होता, उसके वक्तव्य में गहराई नहीं आती। कभी-कभी वक्ता गहराई के अभाव को लम्बाई से भरने का प्रयास करता है। वक्ता लम्बाई के द्वारा गहराई को भरने का प्रयास न करे अपितु गंभीर अध्ययन करे, ज्ञान का विकास करे। एक साधु के लिए यह अपेक्षित है कि वह केवल वाक् प्रयोग ही न करे। उसकी वाणी के प्रयोग के साथ-साथ उसकी साधना भी बोलनी चाहिए। साधनासिक्त वाणी का प्रयोग होना चाहिए।

साधक के लिए अपेक्षा है कि धर्मकथा करने में कौशल को प्राप्त करे, अपनी शैली को अच्छी बनाए। इतनी प्रामाणिक बातें कहे जिनको सुनकर श्रोता प्रसन्न हो और आनन्द की अनुभूति करे। उन्हें ठोस सामग्री उपलब्ध हो जाए। वक्ता के कल्याण के साथ-साथ श्रोता का भी कल्याण हो सके।

२४

श्रुताराधना से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**सुयस्स आराहणयाए णं भंते। जीवे किं जणयइ ?** भंते! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सुयस्स आराहणयाएणं अण्णाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ।** श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बच जाता है।

इस दुनिया में ज्ञान का बहुत महत्त्व है। ज्ञानी आदमी स्वयं की समस्याओं का समाधान कर सकता है, दूसरे की समस्याओं को भी समाहित कर सकता है और समस्या पैदा न हो ऐसी स्थिति का निर्माण भी कर सकता है।

जैन कर्मवाद के अनुसार आठ कर्म हैं। उन आठों कर्मों का उनके कार्य के अनुसार संक्षेपीकरण किया जाए तो चार स्थितियां बनती हैं अथवा यों भी कहा जा सकता है कि हमारे व्यक्तित्व के चार आयाम हैं। उन चारों के साथ आठ कर्मों का संबंध है। वे चार आयाम हैं—ज्ञानात्मक व्यक्तित्व, शरीरात्मक व्यक्तित्व, प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व और भावात्मक व्यक्तित्व। ज्ञानात्मक व्यक्तित्व के साथ ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म का संबंध है। शरीरात्मक व्यक्तित्व के साथ वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म और नाम कर्म का योग है। प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व के साथ नाम कर्म और गोत्रकर्म का संबंध है। भावात्मक व्यक्तित्व के साथ मोहनीय कर्म का संबंध है। अंतराय कर्म तो इन

चारों के साथ जुड़ा हुआ रहता है। इन कर्मों के आधार पर ये चारों व्यक्तित्व अच्छे भी बन सकते हैं और बुरे भी बन सकते हैं। यदि ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का प्रबल उदय है तो हमारा ज्ञानात्मक व्यक्तित्व कमजोर रह जाता है। आदमी पूरा समझ भी नहीं पाता और कोई ज्ञानपूर्ण बात बता भी नहीं सकता। ज्ञान की चेतना कुछ आवृत हो जाती है।

शरीरात्मक व्यक्तित्व में किसी का शरीर बहुत सुन्दर और स्वस्थ होता है तो किसी का शरीर बेडोल, भद्दा और अस्वस्थ होता है। स्वस्थता और अस्वस्थता के साथ वेदनीय कर्म का संबंध है। अगर सातवेदनीय कर्म का उदय है तो शरीर स्वस्थ रहता है और असातवेदनीय कर्म का उदय होता है तो शरीर रुग्ण बन जाता है। सातवेदनीय कर्म बंध के कई कारण बताए गए हैं, जैसे—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को अपनी असत् प्रवृत्ति से दुःख न देना, दीन न बनाना, शरीर को हानि पहुंचाने वाला शोक पैदा न करना, न रुलाना, लाठी आदि से प्रहार न करना, परितापित न करना। जिस व्यक्ति के मन में निरनुकम्पता रहती है, दया का भाव नहीं रहता, किसी को दुःख देने का प्रयास किया जाता है तो असातवेदनीय का बंध हो जाता है। किसी का आयुष्य बहुत लम्बा होता है और किसी का आयुष्य बहुत छोटा होता है। आयुष्य की दीर्घता और अल्पता का संबंध आयुष्य कर्म के साथ होता है। सत्कर्म के द्वारा अच्छा आयुष्य और दुष्कर्म के द्वारा खराब आयुष्य का बंध हो जाता है। शरीर की सुन्दरता और कुरूपता नामकर्म के साथ जुड़ी हुई है। शुभ नामकर्म का उदय है तो शरीर सुन्दर होगा और अशुभ नामकर्म का उदय होगा तो शरीर असुन्दर या कुरूप बन जाता है। यह हमारा शरीरात्मक व्यक्तित्व है।

प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व में किसी व्यक्ति को सम्मान मिलता है। उसकी बात का आदर होता है। जो कुछ वह कह देता है उसकी आज्ञा का पालन किया जाता है। कोई छोटी अवस्था में मंत्री अथवा बड़े पद पर आसीन हो जाता है। इन सबमें प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व और उससे जुड़ा हुआ नामकर्म और गोत्रकर्म काम करता है। मेरा अपना मत है कि पुण्य का योग न हो तो प्रतिष्ठा नहीं मिलती। सबके अपने-अपने पुण्य होते हैं। गुरुदेव तुलसी बाईस वर्ष की अवस्था में तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य बन गए। अवश्य ही उनका पुण्य प्रबल था। तब वे इतनी छोटी अवस्था में तेरापंथ के ताज बन गए। यदि पुण्य का योग नहीं होता तो इतनी प्रतिष्ठा नहीं मिलती। जिसके अशुभ नामकर्म और

नीच गोत्र कर्म का उदय है, उसको प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। लोग उसका तिरस्कार करते हैं, अवहेलना करते हैं।

भावात्मक व्यक्तित्व के साथ मोहनीय कर्म जुड़ा हुआ है। जब मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम होता है, तब आदमी में क्षमा, संतोष, ऋजुता आदि के भाव रहते हैं और जब मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता है तब आदमी का भावात्मक व्यक्तित्व खराब हो जाता है। बार-बार गुस्सा आना, अहंकार करना, मन में अशांति रहना, तनाव रहना। यह सब मोहनीय कर्म के उदय के साथ जुड़ा हुआ है।

श्रुत की आराधना करने से मानो अपने आराध्य देव की आराधना हो जाती है। जो भक्ति से श्रुत की आराधना करते हैं। वे अपने आराध्य देव यानी तीर्थंकर भगवान/अर्हत् भगवान की आराधना करते हैं। क्योंकि तीर्थंकर ज्ञानमय हैं। तीर्थंकर की चेतना ज्ञानमय है। शास्त्रकार ने कहा कि श्रुत की आराधना से आदमी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, ज्ञान की चेतना उभर जाती है और वह संक्लेश को प्राप्त नहीं होता। जिसमें अध्यात्म विद्या का ज्ञान नहीं है, वह संक्लिष्ट हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे कोई एक साधु बीमार हो गया। शरीर में वेदना होने पर वह सोचता है—यह बीमारी बिना बुलाए आई है इसलिए यह मेरी अतिथि है। मैं इस पर द्वेषभाव न करूं, समता भाव से सहन करूं, मुझे निर्जरा का लाभ मिलेगा। मेरे पुराने कर्म कटेंगे। मैं इसमें दुःख क्यों करूं, दुःखी क्यों बनूं? उस साधु को कर्मवाद का ज्ञान था, निर्जरा का ज्ञान था। इसलिए उसने बीमारी के साथ भी मैत्री का प्रयोग किया। उस बीमारी को अपनी कर्म निर्जरा का साधन बना लिया, जिससे उसके मन में संक्लेश का भाव नहीं आया। अगर अध्यात्म विद्या का ज्ञान न हो तो थोड़ी-सी बीमारी में भी आदमी घबरा सकता है, मन में दुःख भोग सकता है, मानसिक व्यथा की अनुभूति कर सकता है। एक आदमी का किसी ने अपमान कर दिया, उसके मन में संक्लेश हो सकता है। पदोन्नति की जगह पदावनति हो जाए तो मन में वेदना हो सकती है। मन की वेदना बाहर दिखे या न भी दिखे, किन्तु उसको भोगने वाला ही जानता है कि वह व्यक्ति को कितना सताती है। वह एक कांटे की तरह कष्ट देने वाली होती है। वह व्यक्ति महान है, जो किसी की मनोव्यथा को दूर कर देता है और चित्त समाधि प्रदान करता है।

अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी के समय का प्रसंग है। एक मुनि जो अग्रणी

थे, किसी बात को लेकर उनका अग्रगण्यत्व समाप्त कर दिया गया और उनके सहवर्ती मुनि को अग्रणी बनाकर उनके साथ उनको दे दिया। इस प्रकार के प्रसंग से व्यक्ति के मन पर कितना असर हो सकता है, कितना मानसिक संक्लेश हो सकता है कि मेरे अनुगामी को अग्रगामी बनाकर मुझे उनके साथ दिया गया है। किन्तु जिसकी ज्ञानात्मक चेतना जागृत होती है और भावात्मक व्यक्तित्व प्रशस्त होता है, वह व्यक्ति ऐसी स्थिति को भी शांति के साथ झेल सकता है। उसे उच्च साधना का प्रमाण माना जा सकता है, जिसके मन में किसी भी परिस्थिति में किसी प्रकार का संक्लेश न हो, पीड़ा न हो, बड़ी शांति के साथ अंतर्मन से उस स्थिति को स्वीकार कर लिया जाता है। जिसमें यह ज्ञान की चेतना जाग जाती है कि ये सब स्थितियां हैं। इनमें उलझना नहीं चाहिए। मेरे भाग्य में जो है, वह मुझे मिलकर रहेगा। जो मेरे भाग्य में नहीं है या जिसके लिए मैं योग्य नहीं हूं अथवा मेरे पुण्य का योग नहीं है, वह वस्तु मुझे नहीं मिलेगी। इसलिए जो कुछ मिले, उसमें मुझे संतुष्ट रहना चाहिए। यह सहज संतोष की भावना जाग जाती है, तब मानसिक संक्लेश कम हो सकता है। आदमी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समता का विकास करे और साथ में ज्ञान की आराधना करे, जिससे आदमी असंक्लेश की अवस्था में रह सके।

२५

मन की एकाग्रता से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**एगग्गमणसन्निवेसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?** भंते! मन को एक अग्र पर केन्द्रित करने से जीव को क्या प्राप्त होता है? उत्तर दिया गया—**एगग्गमणसन्निवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ।** एक अग्र पर मन को केन्द्रित करने से चित्त का निरोध हो जाता है।

आदमी का मन चंचल होता है। वह थोड़ी-सी देर में कहां से कहां चला जाता है। मन की दो अवस्थाएं होती हैं—व्यग्र और एकाग्र। जब मन के विभिन्न आलंबन बन जाते हैं, कभी यहां तो कभी वहां यानी वह भ्रमणशील रहता है, विकेन्द्रित हो जाता है, यह मन की व्यग्र अवस्था है। जब मन एक आलंबन पर केन्द्रित हो जाता है, वह मन की एकाग्र अवस्था है। आदमी का मन बहुत अच्छा है, क्योंकि मन के द्वारा सुन्दर विचार किया जा सकता है, सुन्दर कल्पना की जा सकती है और मन से सुख भी मिलता है। परन्तु वही मन तब दुःखदायी बन जाता है, जब मन में खराब विचार आ जाते हैं, खराब कल्पनाएं आ जाती हैं। फिर मन दूषित बन जाता है। आदमी अपने मन की चंचलता के कारण दुःखी भी बन सकता है और मन की एकाग्रता से सुखी भी बन सकता है। मन को एकाग्र बनाने के लिए, मन को वश में करने के लिए अपेक्षा है अन्तर्मन में वैराग्य भाव की उत्पत्ति। ऊपर से भले ही किसी ने कितनी तपस्या कर ली, कितना ही दान दे दिया, कितने ही शास्त्रों का अभ्यास कर लिया, कितने ही क्रिया काण्ड कर लिए, ऊपरी आचार का भी

पालन कर लिया होगा, किन्तु अगर भाव शुद्ध नहीं है तो वह तपस्या, साधना भी विशेष फलदायी नहीं होती। साधना को सफल बनाने के लिए वैराग्य का अंकुर पैदा करना होगा। जब वैराग्य का फल आएगा तब मन अपने वश में रह सकेगा।

हमारे मन में बार-बार विचार आते रहते हैं। हम चलते हैं, चलते-चलते भी कितने विचार आ जाते हैं। हम भोजन करते हैं, भोजन करते समय भी कितने विचार मन में आ जाते हैं। रात्रि में सोते समय भी विचार आते रहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हमारा मन बड़ा चंचल है। इसलिए मन को किसी एक बिन्दु पर टिकाने का, बांधने का प्रयास करना चाहिए और साथ में श्वास के खूंटे से उसे जोड़ देना चाहिए। मन एक प्रकार की गाय है। इस गाय को एक खूंटे से बांधने की अपेक्षा है। अन्यथा वह कहीं भी जा सकती है। वह खूंटा है श्वास का। मन को श्वास के खूंटे से बांध दिया जाए तो वह कुछ केन्द्रित हो सकता है। हालांकि बांध देने के बाद भी वह कुछ कूद-फांद तो कर सकता है, किन्तु खूंटा मजबूत हो और अच्छी तरह बंधा हुआ हो तो ज्यादा दूर नहीं जा पाएगा।

हमारे मन में राग-द्वेष के भाव आ सकते हैं। किसी के द्वारा थोड़ी-सी प्रशंसा करने पर हम फूल जाते हैं, खुश हो जाते हैं और किसी के द्वारा कुछ निन्दा करने पर हमारे मन में आक्रोश आ जाता है, मन खिन्न भी हो सकता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि हमारे मन को सहन करने का अभ्यास नहीं है। अगर सहन करने का अभ्यास हो जाए तो फिर भले कोई प्रशंसा करे या निन्दा करे, हमारे मन पर ज्यादा असर नहीं होगा। हम अपनी कामनाओं, इच्छाओं पर संयम करें तो मन नियंत्रित हो सकता है। आदमी अपनी साधना के द्वारा, ध्यान के द्वारा मन को संयमित करने का और मन को एकाग्र बनाने का प्रयास करे। यद्यपि कई बार मन एकाग्र होता भी है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति जब रुपये गिनता है तब उसका मन कितना एकाग्र हो जाता है। वहां मन की एकाग्रता रूपयों के साथ जुड़ गई। वही मन यदि भगवान के साथ जुड़ जाए तो कितनी बड़ी बात हो जाए। जो मन विषयों में एकाग्र होता है, शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में एकाग्र होता है, वह मन आत्मा के साथ जुड़ जाए, परम तत्त्व के साथ जुड़ जाए तो आदमी का कल्याण हो सकता है। आदमी कभी माया में मन को लगाए और कभी राम में मन को लगाए तो उसका कल्याण कैसे

होगा? कहा भी गया है—

राम नाम फीका लगे, नीका लगे जु दाम।
दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम।।

आदमी दोनों घोड़ों की सवारी न करे। वह राम के घोड़े पर चढ़े, अध्यात्म के घोड़े पर चढ़े तो मन पवित्र बनेगा और आत्मा का भी कल्याण हो सकेगा। अध्यात्म की साधना में मन की एकाग्रता बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

कुछ लोग तपस्या, साधना करते हैं, किन्तु उसके पीछे भी मन में कामना रहती है कि मुझे सत्ता मिले, पैसा मिले, पद मिले आदि। आदमी मन्दिर में भी जाता है तो कामनाओं को साथ लेकर जाता है। कामनायुक्त धर्म से ज्यादा लाभ नहीं मिलता। निष्काम होकर भगवान की भक्ति करने से अधिक लाभ मिलता है। एक बार भगवान राम कहीं जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने पम्पा सरोवर को देखा और लक्ष्मण से कहा—

पश्य लक्ष्मण! पंपायां, बकः परमधार्मिकः।
मंदं मंदं पदं धत्ते, जीवानां वधशंकया।।

भैया लक्ष्मण! यह बगुला कितना धार्मिक है? कहीं किसी जीव की हिंसा न हो जाए, कोई जीव पांव के नीचे आकर मर न जाए इसलिए कितना धीरे-धीरे चलता है। यह बात एक मछली ने सुन ली। वह तत्काल बोल पड़ी—

बकः किं वर्ण्यते राम! येनाऽहं निष्कुलीकृता।
सहचारी विजानीयाद्, चरित्रं सहचारिणाम्।।

हे रामचन्द्रजी! आप बगुले के बारे में क्या कह रहे हैं? आप इसको जानते ही कहां हैं? उसको तो मैं जानती हूं। साथ में रहने वाला व्यक्ति ही साथी के चरित्र को जान सकता है। इस बगुले ने मेरे कुल का नाश कर दिया। यह धार्मिक नहीं है। इसकी दृष्टि तो मछलियों पर टिकी रहती है। कब मछली मिले और कब उसे समाप्त करे। प्रभो! आप इसकी प्रशंसा न करें।

बगुले में भी एकाग्रता तो है, किन्तु वह एकाग्रता भगवत्ता के प्रति नहीं, मछली के प्रति है। आदमी के मन की एकाग्रता केवल पैसों के लिए न हो, केवल बाह्य विषयों के प्रति न हो। वह एकाग्रता परम प्रभु के प्रति हो जाए,

आत्मा के प्रति हो जाए तो बेड़ा पार हो सकता है। अनेक व्यक्ति राम का नाम लेते हैं। राम का नाम लेने से मन की निर्मलता बढ़े और मलिनता दूर हो तो राम का नाम लेना ज्यादा सार्थक सिद्ध हो सकता है। नाम को भी श्वास के साथ जोड़ा जा सकता है। श्वास लेते समय राम का नाम ले लिया जाए और श्वास छोड़ते समय न कोई नाम, न कोई विचार। इस प्रकार श्वास के साथ नाम जोड़ने पर मन ज्यादा एकाग्र हो सकेगा।

कई बार आदमी ऊपर से भगवान का नाम लेता है, उपासना करता है किन्तु भीतर में वासना का निवास होता है। यदि सही तरीके से, सही लक्ष्य से भक्ति या उपासना की जाए तो वासना का नाश हो सकता है, मन की पवित्रता बढ़ सकती है। हालांकि मन तो एक प्रकार का यंत्र है। मूल तो भाव है। भीतर जैसे भाव होते हैं, उनके अनुसार मन अच्छा या बुरा बन जाता है। जब भाव अपवित्र होते हैं तब आदमी आतंकवाद में जा सकता है, बलात्कार की ओर आगे बढ़ सकता है, हिंसा आदि गलत कार्यों की दिशा में अग्रसर हो सकता है। इसलिए ध्यान के द्वारा, योग के द्वारा, अध्यात्म की साधना के द्वारा गलत भावों का रेचन किया जाए तो मन स्वतः ही पवित्र बन जाएगा।

एक दार्शनिक से प्रश्न पूछा गया—महोदय! हमारी दुनिया में सबसे आसान कार्य क्या है?

दार्शनिक ने कहा—सबसे आसान कार्य है दूसरों की निन्दा-आलोचना करना। अच्छे-अच्छे व्यक्तियों की भी लोग निन्दा-आलोचना करते रहते हैं। हां, समीक्षा तो की जा सकती है, किन्तु बिना मतलब किसी की निन्दा या गलत आलोचना नहीं करनी चाहिए।

दूसरा प्रश्न पूछा गया—दुनिया में सबसे कठिन कार्य क्या है?

दार्शनिक ने कहा—सबसे कठिन कार्य है अपनी पहचान करना। दूसरों की पहचान करना भी कठिन होता है किन्तु अपनी पहचान करना, अपनी आत्मा को देखना और अधिक कठिन होता है। हमारी अपनी आंखें दूसरों के चेहरे को देखती है, पर स्वयं का चेहरा देखने में असमर्थ है। जब आदमी अपना चेहरा भी नहीं देख पाता तो आत्मा तो बहुत गहरी चीज है। उसकी पहचान करना तो और भी कठिन काम है।

दार्शनिक से तीसरा प्रश्न पूछा गया—दुनिया में सबसे ज्यादा गतिशील क्या है?

दार्शनिक—सबसे ज्यादा गतिशील है आदमी का मन। यदि भारत से किसी को अमेरिका जाना है तो कुछ घण्टे तो अवश्य लगेंगे। किन्तु मन को अमेरिका पहुंचने में कुछ सैकिण्ड ही लगेंगे। यह मन की गतिमत्ता है। यह गतिमत्ता काम की नहीं है। इससे समस्या का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मन को नियंत्रित करना अपेक्षित है।

आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया है कि एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित करने से चित्त का निरोध होता है, चित्त शांत होता है। चित्त का निरोध हो जाने से आदमी को परम समाधि और शांति मिल जाती है।

२६

संयम से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**संजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भन्ते! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।** संयम से जीव अनाश्रव की स्थिति का निर्माण करता है।

संयम शब्द धार्मिक साहित्य का एक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण शब्द है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार सम् उपसर्ग पूर्वक यमुं-उपरमे धातु से संयम शब्द निष्पन्न होता है। सम्यक्तया विरति करना संयम है। प्रश्न हो सकता है कि विरति किससे करें? विरति उन चीजों से करें जो हमारी आत्मा को मलिन बनाने वाली है। विरति उन कार्यों से करें, उन आकर्षणों से करें, जो हमारे स्वभाव को विभाव में ले जाने वाले होते हैं।

यह जगत द्वन्द्वात्मक है। इसमें दो ही तत्त्व हैं—एक चेतन और दूसरा अचेतन। प्राणी चेतन है, चेतनावान है। चेतन के सिवाय दुनिया में जो कुछ भी है, वह सब अचेतन है। जैनदर्शन के अनुसार अचेतन जगत अमूर्त भी है और मूर्त भी है। चेतन अमूर्त ही होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, ये चार अचेतन तत्त्व अमूर्त्त हैं। पुद्गल तत्त्व अचेतन है किन्तु वह मूर्त है। मूर्त होने का मतलब यह नहीं कि आंखों से देखा जा सकेगा। मूर्त भी दो प्रकार के होते हैं। एक वह मूर्त जो दृष्टि का गोचर बनता है और एक वह मूर्त जो आंखों से नहीं देखा जा सकता। एक परमाणु मूर्त है। उसमें स्पर्श है, रस है, गंध है, वर्ण है, परन्तु फिर भी उसे स्थूल नेत्रों

से नहीं देखा जा सकता। अनन्त परमाणु मिलने से स्कन्ध बन जाता है। हमारे सामने मूर्त दुनिया है, पदार्थ हैं। इन पदार्थों के प्रति हमारा आकर्षण भी होता है और विकर्षण भी होता है। हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां है। इन इन्द्रियों का अपना-अपना एक-एक विषय है। स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है—स्पर्श। रसनेन्द्रिय का विषय है—रस। घ्राणेन्द्रिय का विषय है—गन्ध। चक्षुरिन्द्रिय का विषय है—रूप। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है—शब्द। हमारी ज्ञानेन्द्रियां इन विषयों का ग्रहण करती है। इन इन्द्रियों के दो कार्य हैं। पहला कार्य है शुद्ध ज्ञान करना यानी स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द कैसा है, यह जानना। दूसरा कार्य है भोग करना। इन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग भी किया जाता है। जैसे प्रशंसा भरे शब्दों को सुनने से मन में आह्लाद का भाव आ गया तो समझना चाहिए श्रोत्रेन्द्रिय का भोग हो गया। इसी प्रकार रूप, गंध, रस और स्पर्श का भी भोग किया जा सकता है। संयम की साधना करने वाला व्यक्ति शुद्ध ज्ञान करे किन्तु अपनी चेतना को भोग से बचाने का प्रयास करे। जब मन के साथ राग-द्वेष का भाव जुड़ जाता है तब मलिनता आ जाती है। श्रीमद् भगवद्गीता में सुन्दर कहा गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति।।

विषयों का ग्रहण तो किया जा सकता है किन्तु राग-द्वेष मुक्त इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने का प्रयास करे। ज्ञाता-द्रष्टा भाव से विषयों का ग्रहण करे। उनके साथ राग-द्वेष का भाव न जुड़े। हम व्यवहार की दुनिया में जीवन यापन कर रहे हैं, विषयों की दुनिया में जी रहे हैं। हमारे कान शब्दों को न सुनें, यह कठिन है। हमारी आंखें रूप को न देखें, यह असंभव है। शेष इन्द्रियों के द्वारा भी अपने-अपने विषयों का ग्रहण न हो, यह मुश्किल है। इसलिए मध्यम मार्ग और उचित मार्ग यह बताया गया है—

ण सक्का ण सोउं सद्दा सोयविसयमागता।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।।

पूज्य गुरुदेव तुलसी 'अध्यात्म पदावली' में इसका अनुवाद करते हुए लिखते हैं—

शक्य नहीं है शब्द न सुनना, खुले श्रोत्र के हैं जब द्वार।
शक्य यही है हो न शब्द में, द्वेष राग का अनुसंचार।।

साधक के मन में राग-द्वेष का भाव न आए, विषयों के प्रति आसक्ति का भाव न आए। साधक शुद्ध ज्ञान करे अथवा उचित रूप में भोग भी करे परन्तु आसक्त न बने। एक साधक भोजन करता है किन्तु वह भी शरीर को चलाने के लिए करता है। दसवेआलियं में कहा गया है–

अहो! जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा।।

तीर्थंकरों ने साधु को निरवद्य वृत्ति का निर्देश दिया है। उन्होंने साधु को भोजन करने की आज्ञा दी है, क्योंकि यह शरीर मोक्ष की साधना का हेतु बनता है इसलिए शरीर को टिकाए रखना होगा और शरीर को टिकाए रखने के लिए उसे भोजन भी देना होगा। नौकर से काम करवाना है तो उसे वेतन भी देना होगा। यह शरीर भी हमारा कर्मचारी है, हमारा सहयोगी है। हमारी संयम की साधना में सहयोग करता है। साधक शरीर को चलाने के लिए भोजन को ग्रहण करे। जब-जब साधक विषयासक्त बनता है, तब-तब वह साधना से दूर हो जाता है।

संस्कृत साहित्य में मन के लिए कहा गया है–**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।** मन बंधन का कारण भी बनता है और मोक्ष का कारण भी बनता है। जो मन विषयों में आसक्त रहता है, वह बंधन की ओर ले जाता है और जो मन विषयासक्ति से मुक्त रहता है, वह मुक्ति की ओर ले जाने वाला होता है। आसक्ति से असंयम का पोषण होता है तो अनासक्ति से संयम की साधना होती है। शास्त्रकार ने कहा कि संयम से अनाश्रव की स्थिति का निर्माण होता है। जहां-जहां असंयम होता है, वहां अवश्यमेव आश्रव होता है। जितना-जितना संयम का विकास होता है, उतना-उतना अनाश्रव की स्थिति का निर्माण होता है और संवर की साधना का विकास होता है। एक साधक के सामने संयम ही मुख्य तत्त्व होता है। उसका खाना भी संयम युक्त हो, उसका चलना भी संयम युक्त हो, उसका बोलना, देखना आदि हर क्रियाकलाप संयम युक्त हो। हमारे भीतर एक संघर्ष चलता है। भिन्न-भिन्न वृत्तियों के संस्कार उभरते रहते हैं। कभी मन में गुस्सा आ जाता है तो कभी अहंकार का भाव देखने को मिलता है। कभी लोभ का भाव तो कभी कामोत्तेजना का भाव उभर जाता है। उन भावों को परास्त करने का उपाय भी हमारे पास होना चाहिए। अन्यथा वे भाव हमें परास्त कर सकते हैं। तात्त्विक

भाषा में इसे औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव का संघर्ष कहा जाता है। कभी-कभी औदयिक भाव के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वे हमारे स्वभाव को भी पछाड़ देते हैं और कभी-कभी क्षयोपशम का भाव इतना प्रबल बन जाता है कि औदयिक भाव का संस्कार परास्त हो जाता है। कभी जीव का स्वरूप इतना बलवान बन जाता है कि कर्म-संस्कार परास्त हो जाते हैं और कभी कर्म-संस्कार इतना बलवान बन जाता है कि हमारा स्वभाव कुछ दब जाता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।

चार चीजें बताई गई हैं—यौवन, धन-सम्पत्ति, सत्ता और अविवेक। श्लोककार ने कहा कि इनमें से एक-एक चीज भी विकृत करने वाली है, वहां यदि चारों का योग हो जाए तो फिर कहना ही क्या? किन्तु मेरा मंतव्य है कि यौवन भी विकृत नहीं करता, धन-सम्पत्ति भी विकृत नहीं करती और सत्ता भी विकृत नहीं करती, अगर एक अविवेक साथ में न रहे। यौवन, धन और सत्ता की अवस्था में उन्माद आ सकता है। परन्तु साथ में विवेक हो, संयम हो तो उन्माद को शान्त किया जा सकता है और विवेक युक्त यौवन आदि भी बड़ा काम का होता है।

हमारे जीवन में उपादान और निमित्त का बड़ा योगदान रहता है। इनमें उपादान बलवान होता है किन्तु कभी-कभी निमित्त भी अपना चमत्कार दिखा सकता है। इसलिए सामान्य साधक के लिए यही कल्याणकारी है कि वह अपने उपादान को ठीक बनाने की साधना करता रहे और निमित्तों से यथासंभव बचने का प्रयास करे। हमारे पूर्वाचार्यों ने, मनीषियों ने साधु संस्था के लिए कुछ नियम बनाए। उनमें से अनेक नियम तो मात्र निमित्तों से बचने के लिए हैं। उदाहरण के लिए जैसे साधु संस्था के लिए एक नियम बनाया गया कि अकेला साधु अकेली महिला से बात न करे। हालांकि एक महान साधक चाहे एकान्त में महिला से बात करे, कौनसी दिक्कत है। परन्तु मनीषियों ने सोचा, सबकी साधना, सबका उपादान इतना मजबूत नहीं होता। इसलिए यह नियम बनाया गया। ऐसे कुछ नियम साधक को पतन से बचाने वाले होते हैं। इसलिए साधक संयम की साधना करे। वह निमित्तों से

यथासंभव बचने का और उपादान को ठीक रखने का अभ्यास करे।

आर्षवाणी में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया गया कि संयम से क्या प्राप्त होता है? तात्त्विक भाषा में कहा गया कि ज्यों-ज्यों व्रत, अप्रमाद आदि की साधना बढ़ती है, त्यों-त्यों आश्रव का निरोध होता है, कर्म आगमन का पथ अवरुद्ध होता है। संयम एक ऐसा तत्त्व है जो आन्तरिक समस्याओं का समाधान है तो बाह्य समस्याओं का भी समाधान है। इसलिए हम संयम की साधना करें, यह हमारे लिए श्रेयस्कर है।

२७

तप से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! तप से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**तवेणं वोदाणं जणयइ।** तप से वह व्यवदान को प्राप्त करता है।

जैन वाङ्मय का एक प्रसिद्ध शब्द है—निर्जरा। जैन तत्त्वविद्या में निर्जरा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्जरा का अर्थ है व्यवदान यानी दूर हो जाना। जो कर्म आत्मा के साथ लोलीभूत हैं, घुले-मिले हुए हैं, वे कुछ-कुछ आत्मा से अलग हो जाते हैं। उस अलग होने का नाम ही व्यवदान या निर्जरा है। व्यवदान कार्य है और उसका कारण तप है। गुरुदेव तुलसी द्वारा विरचित 'जैन सिद्धांत दीपिका' नामक ग्रंथ में कहा गया है—**तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा** तपस्या के द्वारा कर्मों के अलग होने से जो आत्मा की उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। जैन साधना पद्धति में आश्रव को कर्म बन्ध और संसार का हेतु माना गया है और संवर को मोक्ष का हेतु माना गया है परन्तु यह ध्यातव्य है कि संवर के साथ निर्जरा का होना अनिवार्य है और निर्जरा के साथ मोक्ष जुड़ा हुआ है यानी निर्जरा के बिना मोक्ष नहीं मिलता। संवर नए सिरे से कर्मों के आगमन को रोकता है, किन्तु जो गन्दगी पहले से जमा है, उसका शोधन करना अथवा पूर्वार्जित कर्मों के संचय को क्षीण करने का कार्य एकमात्र निर्जरा से ही संभव हो सकता है।

तप के बारह प्रकार बताए गए हैं। वे सभी आचरणीय हैं। साधक के

लिए तो तप नितान्त आवश्यक है। तपस्या साधु का धन है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' नामक संस्कृत शब्दकोश में साधु का धन तप, योग, शम बताया है—**स्वं तपोयोगशमादयः।** ये साधक के विशेषण भी हो सकते हैं और नाम भी हो सकते हैं। साधु को तपोधन कहा जाता है। उसके पास तपस्या का धन होना ही चाहिए। जिस मुनि के पास जितना अधिक तपस्या का धन होता है, वह उतना ही धनाढ्य होता है। हम धनाढ्य बने रहें, एतदर्थ तपस्या की आराधना अपेक्षित है। तपस्या शब्द का उच्चारण करने से सामान्यतया उपवास, बेला आदि की ओर ध्यान जाता है। यह तप का पहला प्रकार है। एक दिन, दो दिन आदि नहीं खाना सबके लिए सामान्य बात नहीं है। जब एक दिन में भी आदमी चार-पांच बार खा लेता है, ऐसी स्थिति में न खाना एक साधना है।

तप का दूसरा प्रकार है—ऊनोदरी। उपवास आदि तपस्या सब न भी कर सकें किन्तु ऊनोदरी एक ऐसा तप है, जिसे वृद्ध व्यक्ति भी कर सकता है, जवान भी कर सकता है और कुछ अंशों में बालक भी कर सकता है। हम ऊनोदरी शब्द की शल्य चिकित्सा करें। किसी शब्द के गहरे ज्ञान के लिए उसकी शल्य चिकित्सा करके देखना चाहिए। हमारे शरीर के भीतर क्या है, इसे जानने के लिए एक्स-रे, सोनोग्राफी या एम. आर. आई. से देखा जाए तो शरीर के भीतर की स्थिति का अवबोध हो सकता है। शब्द के भीतरी स्वरूप को जानने के लिए अंतर्निहित अर्थ का साक्षात्कार करने के लिए शल्य चिकित्सा सहायक बनती है। ऊनोदरी में दो शब्द हैं—ऊन और उदरी। ऊन अर्थात कम और उदरी अर्थात पेट। जिससे पेट हल्का रहे, वह उपक्रम ऊनोदरी है। ऊनोदरी का दूसरा नाम अवमोदरिका भी मिलता है। कम खाना बहुत अच्छी साधना है। ऊनोदरी का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए भी उपयुक्त है। जो लोग ज्यादा खाते हैं, उनके लिए अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा हो सकती हैं। प्राचीन साहित्य में ऊनोदरी के दो प्रकार बताए गए हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के दो प्रकार हैं—भक्तपान ऊनोदरी और उपकरण ऊनोदरी। खान-पान में संयम रखना भक्तपान ऊनोदरी है और कपड़े आदि के प्रयोग में संयम रखना उपकरण ऊनोदरी है। एक साधु के लिए वांछनीय है कि वह उपकरणों का ज्यादा संग्रह न करे, अल्पोपधि बना रहे।

ऊनोदरी का दूसरा प्रकार बहुत महत्त्वपूर्ण है—भाव ऊनोदरी। यह हमारे

भावों के साथ जुड़ा हुआ साधना का प्रयोग है। इसके सात प्रकार बताए गए हैं—अल्पक्रोध, अल्पमान, अल्पमाया, अल्पलोभ, अल्पशब्द, अल्पझंझा और अल्पतुमम्। द्रव्यों की ऊनोदरी करना लाभदायी है, उपकरणों की ऊनोदरी करना भी लाभदायी है, किन्तु इनसे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है भाव अवमोदरिका। आदमी को गुस्सा आता है। अभ्यास के द्वारा उसे कम करने से क्रोध की ऊनोदरी हो जाती है। अहंकार को कम करने से मान की ऊनोदरी हो जाती है। आदमी में यदा-कदा छलना का भाव आ जाता है, माया का प्रयोग हो जाता है। संकल्प के द्वारा माया न करने का अभ्यास करने से अल्पमाया या माया-ऊनोदरी हो जाती है। लोभ को सीमित करने की साधना करना लोभ-ऊनोदरी है। भाव अवमोदरिका का पांचवां प्रकार है—अल्पशब्द। बोलने में ऊनोदरी करना यानी कम बोलना। कभी-कभी बड़े प्रोग्राम होते हैं। उसमें जब वक्ताओं की सूची लम्बी होती है और वक्ता लम्बा बोलते हैं तब संयोजक के सामने धर्मसंकट की स्थिति पैदा हो जाती है। वह समय-सीमा का अतिक्रमण भी नहीं करना चाहता और वक्ताओं को असंतुष्ट भी नहीं करना चाहता। इन दोनों यानी समय और वक्ता के बीच की संकड़ी गली से संयोजक को गुजरना होता है। कुछ-कुछ वक्ता बहुत लम्बा बोलते हैं। लम्बा तब बोलना चाहिए जब पास में खूब समय हो और हमारा बोलना काम्य हो। जैसे—संवत्सरी महापर्व के दिन हमारे साधु-साध्वियां भले पांच घण्टे बोलें किन्तु मर्यादा-महोत्सव के व्यस्त कार्यक्रम में यदि कोई लम्बा बोलना शुरू कर दे तो वह अवांछनीय हो जाता है। इसलिए जहां अपेक्षा हो, वहां बोलना चाहिए। जहां अपेक्षा न हो, वहां अभाषण अथवा वाणी का संयम कर लेना चाहिए। इस प्रकार शब्दों में सीमा रखना, शब्दों में अल्पीकरण करना, शब्दों की ऊनोदरी है। अच्छा वक्ता वह होता है, जो अनपेक्षित बात नहीं बोलता और अपेक्षित होने पर भी उचित और प्वाइन्ट-टू-प्वाइन्ट बात बोलता है। आदमी को जहां लगे कि अभी बोलने से कलह होने की संभावना है या बात बिगड़ने की संभावना है, वहां होठों को सील लेना चाहिए यानी बिलकुल मौन कर लेना चाहिए। भाव अवमोदरिका का छठा प्रकार है—अल्प झंझा यानी कलह में कमी। किसी बात को लेकर कलह हो जाए तो प्रयोग आदि के द्वारा उसे कम या शांत किया जाए। कलह करने की वृत्ति पर कन्ट्रोल करने से अल्पझंझा नामक भाव ऊनोदरी हो जाती है। सातवां प्रकार बताया गया है—अल्पतुमम्। तूं कहने में कमी करना। तूं कहने के दो तात्पर्य हो

सकते हैं। एक तूं तो बड़े प्रेम के साथ, श्रद्धा के साथ कहा जाता है, वह बुरा नहीं होता। भगवान को तूं कहा जाता है। मां को भी तूं कहा जाता है। इस तूं के साथ आत्मीयता होती है इसलिए यह वांछनीय होता है किन्तु तिरस्कार की दृष्टि से, अवहेलना की दृष्टि से किसी को तूं नहीं कहना चाहिए। यह अल्पतुमम् भाव ऊनोदरी हो जाती है।

ऊनोदरी करने से क्या लाभ हो सकता है? इसके समाधान स्वरूप प्राकृत साहित्य में एक सुन्दर श्लोक प्राप्त होता है—

धम्मावासय जोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि।
णय इंदियप्पदोसयरी उमोदरितवो वुत्ती।।

ऊनोदरी करने से अनेक लाभ होते हैं। क्षमा, मुक्ति आदि दस धर्मों की साधना होती है। सामायिक आदि आवश्यकों की आराधना होती है और योग, स्वाध्याय व इन्द्रिय-नियंत्रण में सहायक बनती है। ऐसा-वैसा कुछ खा लेने पर हमारे आक्रोश में कुछ वृद्धि हो सकती है, कामोत्तेजना हो सकती है इसलिए ऊनोदरी करनी चाहिए। षडावश्यक में प्रतिक्रमण भी एक आवश्यक है, साधना है। सायंकालीन आहार यदि खूब अच्छी तरह कर लिया जाता है तो फिर सूर्यास्त के बाद प्रतिक्रमण करते समय आलस्य आ सकता है कि कौन ऊठ-बैठकर प्रतिक्रमण करे, आराम से बैठे-बैठे ही कर लें। हमारे यहां प्रतिक्रमण करने की एक अलग विधि है। प्रतिक्रमण के दौरान कुछ उपक्रम खड़े-खड़े, कुछ बैठे-बैठे तो कुछ विशेष मुद्राओं में किए जाते हैं। यदि प्रतिक्रमण विधिपूर्वक किया जाए तो कुछ आसन तो स्वतः हो जाते हैं, जो शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी लाभदायी होते हैं। ऊनोदरी तप की साधना प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों की आराधना में बड़ा निमित्त बनती है। सम्यक् रूप से योग, स्वाध्याय करने के लिए भी ऊनोदरी आवश्यक है। अधिक खाने से स्वाध्याय के समय भी नींद सताने लगती है, अन्य प्रमाद भी हो सकता है। इसलिए अवमोदरिका करनी चाहिए। इन्द्रियों का संयम करने के लिए भी खाने का संयम आवश्यक है। आहार का संयम न होने से इन्द्रियां अनियंत्रित हो सकती हैं। उच्छृंखल हो सकती हैं। इसलिए खाने का संयम करे। एक युवावस्था वाला साधु अतिमात्र गरिष्ठ आहार करता है तो उसके सामने कभी-कभी इन्द्रिय-असंयम की समस्या पैदा हो सकती है। अतः आहार का विवेक और संयम वांछनीय है। आहार-संयम की दृष्टि से बार-बार विगय-वर्जन का अभ्यास

किया जाए। निर्विकृति की साधना संयम के लिए सहायक होती है। इन अनेक कारणों को सामने रखकर साधक को ऊनोदरी का अभ्यास करना चाहिए।

अवमोदरिका को बाह्य तप माना गया है। हालांकि भाव अवमोदरिका मेरी दृष्टि से आंतरिक साधना है, किन्तु सामान्य रूप से ऊनोदरी को बाह्य तप के अंतर्गत ही लिया गया है। भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता भी बाह्यतप के प्रकार हैं। आंतरिक तप के छह प्रकार बताए गए हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। विनय भक्ति करना भी तपस्या है। पूज्य व्यक्तियों का, बड़ों का सम्मान करना विनय है। विनय के प्रयोग से स्वयं के कर्मों की निर्जरा होती है। यदि किसी कारण से गुरु अप्रसन्न हो जाएं तो शिष्य विनय भक्ति के द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करे। कभी-कभी गुरु बहुत कड़ी दृष्टि कर लेते हैं। हमने गुरुदेव तुलसी को देखा। वे कभी-कभी किसी शिष्य के प्रति इतनी कड़ी दृष्टि कर लेते थे कि उसकी ओर प्रायः देखते तक नहीं थे। कुछ शिष्य भी ऐसे होते थे कि बहुत विनयभाव के द्वारा गुरु को प्रसन्न करने का प्रयास करते। गुरु की कड़ी दृष्टि के पीछे उद्देश्य यही रहता है कि शिष्य का प्रमाद दूर हो जाए, उसकी कमजोरी दूर हो जाए। जिसको हमने गुरु रूप में स्वीकार कर लिया, उसके प्रति तो विशेष रूप से भक्ति और नम्रता का भाव होना चाहिए। न केवल गुरु के प्रति, बड़ों के प्रति भी सम्मान और आदर का भाव होना चाहिए। विनय से स्वयं का विकास होता है और कर्मों का निर्जरण होता है।

ध्यान करना भी तपस्या है। शरीर को स्थिर करना, मन को एकाग्र करना और अमन की स्थिति तक पहुंचने का प्रयास करना ध्यान की साधना है। यह भी कर्म-निर्जरा का एक सशक्त उपाय है। इस प्रकार कर्म निर्जरा के लिए तपस्या की आराधना आवश्यक है। तपस्या करने से व्यवदान होता है, कर्म कटते हैं और आत्मा निर्मल बन जाती है।

२८

निर्जरा से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**वोदाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।** व्यवदान से वह अक्रिया यानी मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध को प्राप्त होता है। वह अक्रियावान् होकर सिद्ध होता है, प्रशान्त होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत्त होता है और दुःख का अंत करता है।

कर्मों का अलग होना, कर्मों का हल्का होना, आत्मा का शुद्ध होना—यह व्यवदान है। तपस्या की निष्पत्ति है व्यवदान और व्यवदान की निष्पत्ति है अक्रियावान होना। हमारे साथ तीन योग जुड़े हुए हैं—मन, वचन और काय। इन तीनों की प्रवृत्ति होती है। हम विचार करते हैं, सोचते हैं, कल्पना करते हैं, स्मृति करते हैं, यह मन की प्रवृत्ति है, मनोयोग है। हम बोलते हैं वह वचनयोग है। शरीर के द्वारा जो चेष्टाएं की जाती हैं, जैसे—खाना-पीना, चलना, अन्य क्रियाएं करना काययोग है। प्रवृत्ति तो हमारे साथ जुड़ी हुई है। हम ध्यान दें कि चौबीस घण्टों में क्या कोई ऐसा क्षण भी आता है, जब कोई प्रवृत्ति नहीं हो रही हो। कुछ प्रवृत्तियां स्वतः संचालित होती हैं, जैसे—शरीर में रक्त संचरण होना, हृदय का धड़कना आदि। कुछ क्रियाएं प्रयत्नजनित होती हैं। हमने अपना हाथ ऊंचा किया, यह हमारे प्रयत्न से होने वाली कायिक चेष्टा है। हमने इधर-

उधर देखा, गर्दन को हिलाया, यह हमारे प्रयत्न से होने वाली शारीरिक संचेष्टा है। जब तक शरीर है तब तक सर्वथा प्रवृत्ति रहित होना असंभव है। जब साधक अयोगिकेवली अवस्था यानी चौदहवें गुणस्थान में अवस्थित हो जाता है। वहां न मन से चिन्तन किया जाता है, न वाणी से शब्द आदि का प्रयोग किया जाता है और न शारीरिक संचलन की क्रिया होती है। यह स्थिति बहुत अल्प काल के लिए होती है। इसके बाद आत्मा देह-मुक्त होकर हमेशा के लिए मोक्ष में विराजमान हो जाती है। जब तक आदमी सक्रिय है, कार्य करता है, व्यवहार में जी रहा है और चौदहवां गुणस्थान नहीं आता है, तब तक पूर्णतया योग निरोध नहीं हो सकता।

देहधारी के द्वारा प्रवृत्ति को छोड़ना संभव नहीं है। प्रवृत्ति होगी तो कर्मों का बन्धन भी संभव है। प्रश्न हुआ कि फिर क्या किया जाए? इसका सुन्दर समाधान दिया गया कि तुम आसक्ति मुक्त होकर कर्म करो। शरीर से कर्म करना है, वाणी से कर्म करना है, मन से कर्म करना है किन्तु कमल-पत्र की भांति अलिप्त रहो। फिर कर्म बंधन बहुत हल्का होगा। वह ज्यादा टिकने वाला नहीं होगा, दुःख देने वाला नहीं होगा। जैन विद्या में बंध के दो प्रकार बताए गए हैं—ईर्यापथिक और साम्परायिक। ईर्यापथिक वीतराग के होने वाला बंध है और साम्परायिक सराग के होने वाला बंध है। साम्परायिक बंध दसवें गुणस्थान तक होता है और ईर्यापथिक बंध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में होता है। यहां बंध बहुत हल्का होता है। बंधन हुआ, भोगा और खत्म। टिकने वाला बंध नहीं होता क्योंकि वहां कषाय नहीं होता। कर्म को टिकाने का काम कषाय का है। जहां कषाय नहीं होता वहां बंधन भी तत्काल झड़ने वाला होता है। साधक यह ध्यान रखे कि कार्यों को करते हुए भी मैं किस प्रकार आसक्ति-मुक्त और समताभाव युक्त रह सकता हूं? जैन धर्म में चौदह गुणस्थान बताए गए हैं। उनका मुख्य आधार है—आश्रव का निरोध। पांच आश्रव मुख्य हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। पहले गुणस्थान में पांचों आश्रव विद्यमान रहते हैं। विकास की न्यूनतम अवस्था पहला गुणस्थान होता है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व आश्रव का अभाव रहता है। छठे गुणस्थान में अव्रत आश्रव का अभाव, सातवें गुणस्थान में प्रमाद आश्रव का अभाव, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में कषाय आश्रव का और चौदहवें गुणस्थान में योग आश्रव का सर्वथा निरोध हो जाता है। जैसे-जैसे

आश्रव निरोध होते हैं, वैसे-वैसे गुणस्थानों का ग्राफ बढ़ता जाता है और हमारी आत्मा विशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ती जाती है। शास्त्रकार ने कहा—व्यवदान से अक्रिया की स्थिति प्राप्त हो जाती है। जैसे-जैसे तपस्या के द्वारा कर्म कटते जाएंगे, हम आगे बढ़ते जाएंगे और अन्त में अक्रिया की स्थिति आ जाएगी।

हम व्यवहार जगत में जीते हैं। इसलिए व्यवहार को निभाना भी जरूरी है। हम ऐसी साधना करें कि व्यवहार को निभाते हुए भी आत्मस्थ रह सकें और यह तभी संभव हो सकता है जब अनासक्ति की साधना निष्पन्न हो जाए। वस्तु का उपयोग तो करना होता है किन्तु उसमें आसक्ति न रखना साधना है। साधु आहार करता है, वह अनासक्त भाव से करे। यदि साधु को अच्छा/स्वादिष्ट भोजन मिल गया और वह उसकी खूब प्रशंसा करने लग जाए तो साधु को दोष लग जाता है। वैसे ही यदि अमनोज्ञ भोजन मिल गया और वह उसकी निन्दा करने लग जाए तो भी साधु को दोष लगता है। साधुत्व में कुछ मलिनता आ जाती है। जो भोजन मिले, उसे शांत भाव से ग्रहण कर लेना चाहिए। हम लोग प्रायः नमकयुक्त भोजन करते हैं। किसी को यह कहा जाए कि तुम्हें सप्ताह में एक दिन नमक रहित भोजन करना है तो संभवतः कइयों के लिए नमक विहीन भोजन करना कठिन हो जाता है। नमक में इतना स्वाद होता है कि उसके बिना भोजन कैसा-कैसा ही लगता है।

एक पिता ने अपनी पुत्री से पूछा—बेटी! मैं तुम्हें कैसा लगता हूं?

बेटी बहुत विनीता थी, पिता की भक्त थी। उसने कहा—पिताजी! आप मेरे पिता हैं, मेरे लिए श्रद्धेय हैं। मुझे आप नमक जैसे लगते हैं।

पिता ने कहा—पुत्री! नमक तो खारा होता है। मैं तुम्हारे लिए खारा कैसे हुआ?

बेटी ने कहा—पिताजी! मैं आपको सिद्ध करके बताऊंगी कि आप मुझे किस प्रकार नमक जैसे लगते हैं। दूसरे दिन लड़की ने अपने पिता के लिए नमक विहीन भोजन बनाया। न रोटी में नमक, न दाल में नमक, न सब्जी में नमक, किसी भी चीज में नमक नहीं डाला। वह नमक रहित भोजन पिता को परोसा। पिता ने एक कवल खाया और बोला—बेटी! आज तुमने कैसा भोजन बनाया है? एक भी चीज स्वाद नहीं है। लड़की रसोईघर में गई और नमकयुक्त भोजन

लेकर आई। अब पिता को खाना बहुत अच्छा लगा।

लड़की ने कहा—पिताजी! आपको नमक कितना प्यारा है? मैंने यही तो कहा था कि आप मुझे नमक जैसे प्यारे लगते हैं। नमक विहीन भोजन स्वाद विहीन-सा होता है किन्तु स्वाद-विजय का अभ्यास करने के लिए ऐसे प्रयोग करने चाहिए। जिन द्रव्यों के प्रति आकर्षण हो, उन द्रव्यों को छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। कूरगडुग मुनि ने यही तो किया था। उपवास करना उसके लिए मुश्किल था। वह नीरस भोजन यानी कूर नामक धान्य का आहार करता था। स्वाद विजय की साधना करता था। एक बार गुरु ने उसकी अवहेलना भी कर दी। उसको भी मुनि कूरगडुक ने समभाव से सहन किया और परिणाम यह आया कि साधना करते-करते उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

साधक का यह लक्ष्य रहे कि व्यवदान की दिशा में आगे बढ़ूं। किसी-न-किसी तरह मेरे कर्म निर्जरा होती रहे। साधक किसी विधा को अपना ले। चाहे वह स्वाध्याय की विधा अपना ले, चाहे तपस्या की विधा अपना ले, चाहे वह सेवा की विधा अपना ले अथवा किसी मुख्य प्रवृत्ति में लग जाए ताकि उसके कर्म निर्जरा का क्रम चलता रहे और वह आत्मशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ता रहे। जो साधक किसी भी कार्य में न लगे, न उसके सामने सेवा का कोई विशेष लक्ष्य है, न स्वाध्याय में रुचि है, न तपस्या के प्रति आकर्षण है, न ध्यान के प्रति रुचि है, इसका मतलब है कि वह साधक व्यवदान ज्यादा नहीं कर पा रहा है, कर्मों की निर्जरा ज्यादा नहीं हो रही है। कोई-न-कोई विधा हस्तगत हो जाए तो कर्म-निर्जरा का एक साधन साधक के हाथ में आ जाता है और चित्त-समाधि भी प्राप्त होती है। अन्यथा यदा-कदा चित्त में विक्षेप हो सकता है, संकल्प-विकल्प आ सकते हैं, मानसिक असमाधि हो सकती है। यदि वह किसी कार्य में लगा रहता है तो उसके दिमाग में गलत विचारों को आने का मौका कम मिलेगा अथवा नहीं मिलेगा। क्योंकि उसका दिमाग अन्य कार्यों में लगा रहता है। इसलिए आदमी को खाली नहीं रहना चाहिए। किसी कार्य में संलग्न रहना चाहिए ताकि उसके समय का अच्छा उपयोग हो सके। उसके कर्मों की निर्जरा होती रहे। निर्जरा करते-करते साधक अक्रिय अवस्था को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

२९

सुख कामना के त्याग से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**सुहसाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ।** सुख की स्पृहा का निवारण करने से व्यक्ति में अनुत्सुकता प्राप्त हो जाती है। जिसमें उत्सुकता नहीं रहती, विषय भोगों के प्रति आकर्षण नहीं रहता, वह व्यक्ति दयावान, अनुकम्पक होता है, विनीत होता है, शोक रहित होता है और चारित्र मोहनीय कर्म का नाश करने वाला होता है।

आदमी अनैतिक आचरण भी करता है। मुझे लगता है कि अनैतिकता का एक कारण है—सुखों की लालसा, भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण। दुनिया में जितने अपराध होते हैं, उनके अनेक हेतु हो सकते हैं। मुझे तीन कारण मुख्य रूप से प्रतीत हुए—अर्थ, सेक्स और सत्ता।

अर्थ के क्षेत्र में अपराध होते हैं। पैसा पाने के लिए आदमी क्या नहीं कर लेता है? हत्या तक कर दी जाती है। धोखाधड़ी होती है। सेक्स के क्षेत्र में भी अपराध होते हैं। यदा कदा समाचार पत्रों में देखते हैं कि अमुक युवक ने अथवा अमुक युवकों ने बालिका का अपहरण कर लिया, बलात्कार किया और उसकी हत्या कर दी गई। तीसरा क्षेत्र है सत्ता। चुनाव के दिन आते हैं। लोगों में सत्ता पाने की उत्कण्ठा जागती है और उस संदर्भ में भी अपराध हो जाते हैं।

इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में अनेक कारण संभव हैं। एक कारण है—सुखों की आकांक्षा, कुछ पाने की आकांक्षा।

जनता प्रतिनिधि को चुनती है। वह सोचती है कि व्यक्ति आगे आएगा और जनता की सेवा करेगा। जनता की सेवा की प्रतिज्ञा लेकर विधानसभा और लोकसभा में जाने वाले विधायक और सांसद, जो जनप्रतिनिधि हैं। उनके मन में यदि सेवा की भावना है तो वे अच्छा काम कर सकेंगे। सत्ता हाथ में आ जाने के बाद न्याय-नीति के साथ काम करना अपने आपमें बड़ी बात है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जब तक सत्ता हाथ में न आए तब तक तो आदमी आदर्श की बात भी कर लेता है। किन्तु सत्ता मिलने के बाद कौन उन आदर्शों पर कितना चलता है? कुछ कहा नहीं जा सकता। हालांकि मेरा अपना मंतव्य है कि विधायक, सांसद आदि जनता की सेवा करते हैं। यह अलग बात है कि सेवा के साथ-साथ वे कुछ मेवा भी खाते होंगे, कुछ लेते भी होंगे।

पूज्य गुरुदेव तुलसी का प्रवास दिल्ली में हो रहा था। तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी गुरुदेव से मिलने के लिए आए। वार्तालाप के दौरान गुरुदेव तुलसी ने कहा—प्रधानमंत्रीजी! आप गरीबों के लिए क्या करते हैं? प्रधानमंत्रीजी ने कहा—आचार्यजी! हम गरीबों पर ध्यान तो दे रहे हैं, किन्तु स्थिति कुछ ऐसी बनती है कि हम गरीबों के लिए यदि एक रुपया भेजते हैं तो उनके पास पन्द्रह पैसे ही पहुंचते हैं।

एक बार एक राजा के मन में प्रश्न हुआ कि हमारा इतना बड़ा राज्य है, इतनी जनता है, इतना व्यापार होता है, फिर भी राजस्व इतना कम कैसे आता है? मंत्री से यह प्रश्न पूछा गया। मंत्री बहुत बुद्धिमान था। वैसे भी मंत्री को बुद्धिमान होना ही चाहिए। क्योंकि बहुत सारे काम मंत्री के हाथ से होते हैं। अगर योग्य मंत्री होता है तो राज्य के संचालन में पवित्रता रह सकती है और यदि मंत्री अयोग्य हो, अनैतिक हो, पक्षपात दृष्टि वाला हो तो उसकी सलाह से कुछ गलत काम अथवा गलत निर्णय भी हो सकते हैं। मंत्री ने कहा—राजन्! मैं कुछ ही दिनों में आपको बता दूंगा कि राजस्व कम आने का कारण क्या है? मंत्री ने पूरी योजना के साथ एक कार्यक्रम बनाया। उसमें एक हजार युवकों को आमंत्रित किया गया। निर्धारित समय पर उन हजार युवकों को यू (U) के आकार में पंक्तिबद्ध बिठा दिया गया। सामने

स्वयं राजाजी आसीन हुए। मंत्री ने पांच किलो का हिमखण्ड हाथ में लिया और पहले युवक के हाथ में उसे देते हुए बताया कि पहला युवक दूसरे युवक के हाथ में, दूसरा युवक तीसरे के हाथ में, इस प्रकार क्रमशः हिमखण्ड बढ़ते-बढ़ते प्रत्येक युवक के हाथ में जाते-जाते मेरे हाथ में आएगा। फिर मैं राजाजी के हाथों में समर्पित करूंगा। निर्देशानुसार बर्फ आगे बढ़ती गई और अन्त में मंत्री महोदय ने हिमखण्ड राजाजी को समर्पित किया। पांच किलोग्राम का यह हिमखण्ड मात्र ५०० ग्राम का रह गया था।

मंत्री ने कहा—राजन्! मैंने आपके सामने एक प्रयोग किया। पांच किलोग्राम का हिमखण्ड इतने हाथों में जाते-जाते आपके पास पहुंचा, तब तक मात्र ५०० ग्राम का बचा है। यह कैसे हुआ?

राजा ने कहा—बर्फ पिघल गई।

मंत्री ने कहा—राजन्! पैसा भी पिघलता है। हमारे उद्योगपति, व्यापारी आदि लोग हैं वे कुछ तो स्वयं कर कम चुकाते हैं। फिर कितने-कितने अफसरों के हाथों से होता हुआ राजस्व जब भंडार में पहुंचता है तब २० या २५ पैसे ही बचते हैं। प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने भी यही कहा था कि हम गरीब व्यक्ति को एक रुपया देते हैं तो मात्र पन्द्रह पैसे ही उसके पास पहुंचते हैं। यह कुछ चौंकाने वाली बात लगती है। किन्तु यह बात इस ओर इंगित करती है कि चाहे जन प्रतिनिधि हो या प्रशासन में काम करने वाले लोग हों, नैतिक मूल्यों की सर्वत्र अपेक्षा है।

हालांकि मेरा मंतव्य है कि प्रशासन में काम करने वाले, राजनीति से जुड़े हुए लोग जनता की सेवा करते हैं। कितने-कितने क्षेत्रों में सरकार द्वारा सेवाकार्य किया जा रहा है। जन प्रतिनिधियों के मन में सेवा का संकल्प हो और साथ में ईमानदारी का संकल्प हो तो वे अपने कार्य में सफल हो सकते हैं। मैंने एक बार महात्मा गांधी का कोई आलेख पढ़ा था। उसमें एक सुन्दर बात कही गई थी, जिसका सार यह है कि व्यक्ति में सेवा की भावना होनी चाहिए। एक डॉक्टर का लौकिक कर्त्तव्य होता है कि वह मरीज की सेवा करे। यदि डॉक्टर सेवा को गौण करके पैसे को मुख्यता देता है तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। जैसे जांच की जरूरत नहीं होती, फिर भी अनेक जांचों

को कराने का निर्देश दिया जाता है। दवा की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी अमुक-अमुक दवाइयां लेने का निर्देश दे दिया जाता है। क्योंकि डॉक्टर का केमिस्ट के साथ अनुबंध होता है, जांच करने वाले व्यक्तियों के साथ अनुबंध होता है। उनको जो कुछ मिलेगा, उसमें से कुछ भाग डॉक्टर को भी मिल जाएगा। यदि ऐसा कुछ होता है तो डॉक्टर नैतिकता से कुछ वंचित हो जाता है। एक वकील का कर्त्तव्य होता है कि वह वकालत के द्वारा न्याय को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करे। अगर न्याय प्रतिष्ठित नहीं होता है तो वकील अपने वाक्कील धर्म से कुछ वंचित हो जाता है। एक अध्यापक का धर्म है कि वह विद्यार्थी को ज्ञान दान दे और उसके विकास की चिन्ता करे। यदि अध्यापक धन-प्राप्ति को मुख्य मानने लगता है और विद्यार्थी को ज्ञान देना गौण कर देता है तो शिक्षक अपने धर्म से वंचित हो जाता है। एक साधु का कर्त्तव्य होता है कि वह जनता को उपदेश दे और सम्यक् आचार का पालन करे। अगर साधु उपदेश देने में आलस्य करता है और सम्यक् आचार का पालन नहीं करता है तो वह साधु अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। एक व्यापारी का कर्त्तव्य है कि वह वस्तु वितरण के माध्यम से जनता की सेवा करे। व्यापारी का उद्देश्य मात्र पैसा कमाना नहीं होता है। उसका मुख्य उद्देश्य यह माना गया है कि वह व्यापार के माध्यम से जनता की सेवा करे। सेवा करना व्यापारी का प्रथम कर्त्तव्य है। पैसा कमाना तो नम्बर दो की बात है। यदि येन केन प्रकारेण पैसा कमाना ही व्यापारी का मुख्य लक्ष्य बन जाता है तो वह व्यापारी अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। जन प्रतिनिधि यह सोचे कि जनता ने हम पर विश्वास किया है तो हम भी जनता के विश्वास के अनुरूप कार्य करें।

शास्त्रकार ने कहा—सुखों की स्पृहा का त्याग करने से चारित्र मोहनीय कर्म क्षीण होता है। क्योंकि सुखों की आकांक्षा का मूल स्रोत है—चारित्र मोहनीय का उदय। जैसे-जैसे सुखों की आकांक्षा का त्याग होगा, वैसे-वैसे चारित्र मोहनीय कर्म पर चोट लगेगी, प्रहार होगा। प्रहार होते-होते वह मंद पड़ जाएगा और एक समय आएगा कि चारित्र मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो जाएगा। जैन वाङ्मय में दो शब्द मिलते हैं—सुखस्वादक और सुखसातक। सुखस्वादक वह होता है जो सुखों में स्वाद लेता है, सुख चाहता है। सुखसातक वह होता है, जो सुखों की स्पृहा को त्यागता है। साधक भौतिक

सुखों की आकांक्षा को त्यागने का प्रयास करे। जब सुखों की स्पृहा का निवारण हो जाता है तब व्यक्ति में उत्सुकता नहीं रहती और उत्सुकता न रहने पर विषय भोगों के प्रति आकर्षण नहीं रहता। विषय भोगों के प्रति आकर्षण नहीं रहता है तब व्यक्ति शोक रहित हो जाता है और चारित्र मोहनीय कर्म का नाश कर देता है।

३०

अनासक्ति से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**अप्पडिबद्धयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! अप्रतिबद्धता से जीव क्या प्राप्त करता है? समाधान दिया गया—**अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ।** अप्रतिबद्धता से वह असंगता को प्राप्त हो जाता है। असंगता के द्वारा जीव अकेला, एकाग्रचित्तवाला, दिन और रात बाह्य संसर्गों को छोड़ता हुआ अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है।

आदमी के जीवन में ध्यान देने से यह अनुभव होता है कि कहीं-कहीं प्रतिबद्धता है, आसक्ति है। आसक्ति बन्धन है और अनासक्ति मुक्ति है। व्यक्ति की शरीर के प्रति प्रतिबद्धता और आसक्ति रहती है। क्योंकि सबसे निकट शरीर होता है। साधक यह चिन्तन करे कि मेरा शरीर के प्रति ज्यादा मूर्च्छा का भाव न रहे, ज्यादा आसक्ति का भाव न रहे। वह अन्यत्व भावना का विकास करे अर्थात् मैं (आत्मा) अलग हूं और शरीर अलग है। यद्यपि आत्मा शरीर में है, किन्तु आत्मा का अस्तित्व अलग है और शरीर का अस्तित्व अलग है। जैसे—मिट्टी और सोना प्रारंभिक अवस्था में बिलकुल मिले जुले रहते हैं परन्तु दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है। गुरुदेव तुलसी ने कहा—

आत्मा भिन्न शरीर भिन्न है, एक नहीं संजोना।
है मिट्टी से मिला जुला पर, आखिर सोना सोना।।

जिस प्रकार सोना अलग है और मिट्टी अलग है, उसी प्रकार आत्मा अलग है और शरीर अलग है। हमारी आत्मा सोने के समान है और शरीर मिट्टी के समान है। हमें ज्यादा ध्यान आत्मा पर देना चाहिए। शरीर की भी सार संभाल की जा सकती है। क्योंकि शरीर से हमारा स्वार्थ सिद्ध होता है। **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** शरीर धर्म की साधना का मुख्य साधन है। साधना करनी है तो शरीर को टिकाए रखना होगा। यदि शरीर को टिकाए रखना है तो इसकी देखभाल भी करनी होगी। इसे भोजन भी देना होगा, सर्दी-गर्मी आदि से भी इसकी अपेक्षित सुरक्षा करनी होगी। शरीर की सार-संभाल तो की जा सकती है किन्तु उस पर मोह न रहे, आसक्ति का भाव न रहे। साधक सहनशीलता का अभ्यास करे और यह चिन्तन करे कि शरीर में कभी कुछ कठिनाई भी पैदा हो सकती है, मैं उसे सहन करूंगा। शास्त्रकार ने साधु के लिए बाईस परीषहों का विधान किया है। ये परीषह यदा-कदा साधु जीवन में आ सकते हैं। साधु को परीषहों से पराजित नहीं होना चाहिए। अपितु परीषह-विजेता बनना चाहिए। परीषहों को जीतने के लिए अपेक्षित है कुछ कठोर जीवन जीने का अभ्यास हो। हालांकि अपेक्षित सुविधा का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु सुविधा का दृष्टिकोण नहीं बनना चाहिए। साधक का मन ज्यादा साधना में लगे, ध्यान में लगे, स्वाध्याय में लगे, सेवा और तपस्या में लगे तब तो ठीक है। अगर मन बाहर ही भटकता रहे, भौतिक वस्तुओं में प्रतिबद्ध बन जाए कि मुझे अमुक कपड़ा ही चाहिए, अमुक पेन या पेन्सिल ही चाहिए, भोजन में भी अमुक पदार्थ ही चाहिए। जब इस प्रकार आसक्ति या प्रतिबद्धता होती है तो वह साधना में बाधक बन जाती है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—**लहुभूयविहारिणं** साधु वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहारी होता है। हवा कहीं भी, कभी भी अपना रुख बदल सकती है, दिशा बदल सकती है। वह बंधकर नहीं रह सकती। इसी प्रकार साधु भी किसी के साथ बंधे नहीं, किसी के साथ ज्यादा परिचय न करे। जब परिचय प्रगाढ़ बन जाता है तो वह साधना में बाधा उत्पन्न कर देता है। श्रीमज्जयाचार्य ने हाजरी के माध्यम से हमें सुन्दर दिशा-निर्देश प्रदान किया है। वहां गीत का एक पद्य दिया गया है—

थे तो चतुर सीखो सुध चरचा रे,
थे तो परहर देवो परचा।
अै तो परचा आछा नाही रे।
तूं तो समझ राख हिया मांही रे।।

श्रीमज्जयाचार्य ने कहा कि ज्यादा परिचय करना, आसक्तिपूर्ण संबंध रखना अच्छा नहीं है। जिसके प्रति आसक्ति हो जाती है, फिर बार-बार वही याद आता है। जब वह नहीं मिलता है तब दुःख होता है। इसलिए साधक ममता न करे, अनासक्त भाव में रहे। वह पदार्थ का भोग करे, किन्तु उसके साथ मेरापन न जुड़े। हमारे संघ में तो परम्परा है कि किसी भी वस्तु के लिए 'यह मेरी है' ऐसा नहीं कहा जाता। यह मेरे नेश्राय की है, ऐसा कहा जाता है। यानी वस्तु के प्रति ममत्व नहीं, परन्तु उपयोग के लिए अभी यह मेरे पास है। जब किसी वस्तु पर ममत्व हो जाता है, किसी पदार्थ के प्रति प्रतिबद्धता हो जाती है तब साधना में, ध्यान में, स्वाध्याय आदि में कमी आ जाती है और ध्यान बार-बार उसी जगह जाता है, जहां से मोह का कांटा लगा है।

एक बार गुरु और शिष्य दोनों विहार कर रहे थे। जहां भी जाते, गुरु पूछते—वत्स! स्थान सुरक्षित है ना? कोई खतरा तो नहीं है ना? शिष्य बहुत समझदार था। उसने सोचा, बार-बार गुरुदेव ऐसा क्यों पूछते हैं कि कोई खतरा तो नहीं है ना? एक दिन गुरुजी जंगल में गए हुए थे। शिष्य स्थान पर ही था। उसने गुरुजी का सारा सामान देखा। उसमें एक सोने की ईंट मिली। शिष्य को ज्ञात हो गया कि इस ईंट की सुरक्षा के लिए ही पूछते हैं कि स्थान सुरक्षित है ना? कोई खतरा तो नहीं है ना? उसने उस सोने की ईंट को सामान से बाहर निकाला और पास में ही नदी बहती थी, उसमें उस ईंट को फेंक दिया। दूसरे दिन गुरु-चेला अगले गांव गए। अपने प्रवास-स्थल पर पहुंचते ही गुरु ने वही सवाल किया—वत्स! स्थान सुरक्षित है ना? कोई खतरा तो नहीं है ना? चेले ने कहा—गुरुदेव! अब कोई खतरा नहीं है। खतरे को तो मैंने नदी में फेंक दिया है। अब आप निर्भीक होकर साधना करें। गुरु की सोने की ईंट के प्रति आसक्ति थी, प्रतिबद्धता थी, इसलिए मन में बार-बार भय का भाव आता रहता था। जब मन कहीं ओर अटका हुआ होता है, तब साधना में मन कैसे लग सकता है?

शास्त्रकार ने ठीक कहा है कि अप्रतिबद्धता से एकाग्रचित्तता आती है, जिससे ध्यान, साधना, स्वाध्याय आदि में मन एकाग्र होता है। साधक यह चिन्तन करे कि ज्ञान, दर्शन युक्त एक मेरी आत्मा शाश्वत है। शेष जो बाह्य संबंध हैं, वे अनित्य हैं और कभी-न-कभी वे संबंध विसंबंध में बदलने वाले हैं। संयोग वियोग में परिणत होने वाला होता है। 'अध्यात्मसार' ग्रंथ में कहा गया कि अध्यात्म शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए जिससे हमारा चित्त अध्यात्म से ओतःप्रोत बना रह सके।

यः किलाशिक्षिताऽध्यात्मशास्त्रः पाण्डित्यमिच्छति।
उत्क्षिपत्यंगुलीः पंगुः स स्वर्द्रुमफलेप्सया।।

अध्यात्मशास्त्र को सीखे या पढ़े बिना जो पाण्डित्य को प्राप्त करना चाहता है यानी अपने आपको पंडित दिखलाना चाहता है, वह मानो पंगु होकर भी स्वर्ग के कल्पवृक्ष के फल को प्राप्त करने की इच्छा से अपनी अंगुली को ऊपर करता है अर्थात् हाथ ऊपर करके फल पाने का प्रयास करता है। वह प्रयास व्यर्थ होता है। इसी प्रकार एक साधक अध्यात्म-शास्त्र को तो पढ़ता नहीं और अन्य ग्रंथों को पढ़कर अपने आपको पण्डित बनाने का प्रयास करता है। उसका भी वह प्रयास व्यर्थ होता है। इसलिए साधक प्रतिबद्धता को छोड़ने के लिए ऐसे ग्रंथों को पढ़े, जिससे मोह विगलित हो और वैराग्यभाव बढ़े। उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा रचित 'शान्तसुधारस भावना' संस्कृत भाषा का एक सुन्दर ग्रंथ है। ऐसे ग्रंथों का अर्थ समझकर बार-बार चिन्तनयुक्त स्वाध्याय किया जाए तो कुछ प्रतिबद्धता की चेतना को तोड़ने में, वैराग्यभाव बढ़ाने में और अनित्यता की चेतना जगाने में बड़ा योगदान मिल सकता है। आगम ग्रंथों का भी बार-बार स्वाध्याय किया जाए तो वह साधकों के लिए बड़ा सहायक बनता है, साधना को पोषण देने वाला होता है। उससे अप्रतिबद्धता की चेतना का विकास हो सकता है। जिसमें अप्रतिबद्ध चेतना का कुछ विकास होता है वह आसक्ति का त्याग कर सकता है। जिसके भीतर ममता का भाव है, आसक्ति का भाव है और ऊपर से मात्र त्याग का दिखावा करता है तो वह विडम्बना होती है, प्रदर्शन होता है। उससे कोई कल्याण की बात नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति मात्र दिखावे के लिए पदार्थों का उपभोग नहीं करता,

उसके विषयों की निवृत्ति तो हो सकती है किन्तु आसक्ति नहीं छूटती। जब चेतना परम के साथ जुड़ेगी तब आसक्ति का परित्याग हो सकेगा। साधक अनासक्ति का अभ्यास करे। अभ्यास करते-करते अनासक्ति सिद्ध हो सकती है और वह अप्रतिबद्धता का अनुभव कर सकता है, अप्रतिबद्ध विहारी बन सकता है।

३१

एकांतवास से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**विवित्तसयणासणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! विविक्त शयनासन से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ।** विविक्त शयनासन के सेवन से जीव चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है। चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ़ चारित्र वाला, एकान्त में रत, अन्तःकरण से मोक्ष-साधना में लगा हुआ आठ प्रकार के कर्मों की गांठ तोड़ देता है।

जैन साधना पद्धति का एक शब्द है—विविक्त शयनासन। विविक्त शब्द का अर्थ है—एकान्त। जहां जनता न हो, वह स्थान विजन/एकान्त या विविक्त कहलाता है। एकांत स्थान में रहना, सोना, उठना-बैठना आदि एकांतवास कहलाता है। साधना के अनेक प्रयोग हैं, अनेक विधियां हैं। साधना की दृष्टि से एकान्त स्थान का भी अपना मूल्य होता है। एक साधक के लिए यह वांछनीय माना गया कि वह एकान्त में रहे। कुछ साधक बिलकुल एकान्त में, गुफा में, जंगल आदि में रहकर साधना करते हैं, उसका अपना विशेष मूल्य है। परन्तु जहां संघबद्ध साधना है, अनेक नियमों-उपनियमों से आबद्ध साधना है, सामुदायिक साधना है, वहां यह तो संभव नहीं लगता कि जंगल या गुफा में रहकर साधना की जा सके। किन्तु कुछ एकान्त का अभ्यास किया जा सकता

है। एक साधक के लिए निर्देश दिया गया कि उस मकान या बस्ती में न रहे, जहां स्त्रियों का निवास हो। जिस घर में अनेक लोग रहते हैं, बच्चे भी रहते हैं, स्त्रियां भी रहती हैं, पशु आदि भी रहते हैं, वहां साधक न रहे। क्योंकि कभी-कभी ऐसे निमित्त मिल जाते हैं कि उपादान भी विकृत बन जाता है।

जैन साधना पद्धति में साधु के लिए विगय-वर्जन का निर्देश दिया जाता है। वह भोजन, जो आदमी के मन को विकृत करने वाला हो, उसका संयम करना चाहिए। क्योंकि वह भी एक ऐसा निमित्त बन सकता है, जो मन को भी विकृतमान बना सकता है। इसलिए विगय यानी मिठाइयां, तला भोजन आदि का प्रयोग ज्यादा मात्रा में नहीं करना चाहिए। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया—

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयरसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा।।

आत्मगवेषी पुरुष के लिए विभूषा, स्त्री का संसर्ग और प्रणीत रस का भोजन तालपुट-विष के समान है। प्रस्तुत आगम-गाथा में साधक के लिए तीन बातें तालपुट विष के समान बताई गई हैं। पहली बात है—विभूषा की भावना। शरीर को अलंकृत करना, सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहनना, टिप-टॉप रहने का प्रयास करना, यह विभूषा का प्रयोग साधक के मन को दूषित बना सकता है और विकारोत्पत्ति में निमित्त बन सकता है। इसलिए साधु को श्रृंगार, विभूषा से दूर रहना चाहिए। वह बिना मतलब न तो दर्पण में अपना चेहरा देखे और न ही अपने बालों को संवारे। वह विभूषा वर्जन का प्रयोग करे। दूसरी बात है—स्त्री का संसर्ग। साधक के लिए वांछनीय है कि वह स्त्रियों के साथ अतिमात्र सम्पर्क न रखे। जो साधु स्त्रियों के साथ अति सम्पर्क रखता है, वह तालपुट विष के समान जीवन का नाश करने वाला होता है। क्योंकि आसक्तियुक्त परिचय होगा तो कहीं न कहीं खतरा भी पैदा हो सकता है। इसलिए साधक स्त्री संपर्क के प्रति संयम रखे। तीसरी बात है—प्रणीत रस युक्त भोजन। भोजन को दो दृष्टियों से कसौटी पर कसना चाहिए। जो भोजन मैं कर रहा हूं, वह मेरे स्वास्थ्य के लिए कैसा रहेगा और मेरी साधना की दृष्टि से उसकी क्या भूमिका होगी? इन दोनों दृष्टियों से ध्यान देकर साधक अपने भोजन का निर्णय करे ताकि शरीर भी ठीक रह सके और मानसिकता भी ठीक रह सके। प्रस्तुत आगम में साधक के लिए निर्देश दिया गया है—

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।

साधक को अधिक रसों का सेवन नहीं करना चाहिए। यानी मिठाइयां आदि, खूब घी युक्त भोजन, गरिष्ठ भोजन का सेवन ज्यादा मात्रा में नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये रस, विकृतियां उन्माद को पैदा करने वाली हो सकती हैं, मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करने वाली हो सकती हैं। वे उद्दीप्त धातुएं काम (वासना) को बढ़ाने वाली होती हैं। जिस प्रकार स्वादु फल वाले पेड़ पर पक्षी ज्यादा बैठते हैं। उसी प्रकार जो साधक स्वादु भोजन ज्यादा करता है, विकार रूपी पक्षी उसके पास ज्यादा आते हैं। इसलिए साधक को अतिमात्र विकृति सेवन नहीं करना चाहिए। इस संदर्भ में अनशन, ऊनोदरी, रस-परित्याग, द्रव्य-संयम आदि किया जाता है तो साधक को साधना में सहायता मिल जाती है।

शास्त्रकार ने सुन्दर निर्देश दिया कि साधक एकांत स्थान में रहे। जहां बस्ती होती है। वहां कुछ कठिनाई पैदा हो सकती है। जहां किसी का प्रवास न हो, वहां साधना अच्छी होती है और कुछ समस्याओं से मुक्त भी रहा जा सकता है। विविक्त शयनासन से चारित्र की सुरक्षा होती है। जिस मकान में स्त्रियों आदि का ज्यादा प्रवास होता है, उसी मकान में साधुओं का प्रवास होता है तो परस्पर अधिक सम्पर्क होने की संभावना हो सकती है। वहां युवावस्था की महिलाएं भी हो सकती हैं और युवावस्था के साधु भी हो सकते हैं। वहां कभी कोई विकार की भावना भी आ सकती है। वह स्थिति चारित्र में कुछ कठिनाई पैदा करने वाली होती है। जो साधक एकान्तवासी होता है, वह इन समस्याओं से बच जाता है। उसका चारित्र सुरक्षित रह सकता है। जो चारित्र से सुरक्षित है, गुप्त है, वह पौष्टिक आहार का वर्जन करे और उसकी दृष्टि मोक्ष पर टिकी रहे। एकांतवास के साथ-साथ यह लक्ष्य रहे कि मुझे राग-द्वेष मुक्ति की साधना करनी है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

रागद्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि?
अथ नो विनिर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि?

जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित है, उसे जंगल में जाकर साधना करने की

क्या अपेक्षा है और जो व्यक्ति राग-द्वेष से परास्त है, वह भी जंगल में जाकर क्या करेगा? इसलिए साधक का यह लक्ष्य बना रहे कि मुझे राग-द्वेष से मुक्त होने का अभ्यास करना है। राग-द्वेष की मुक्ति के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ से बचने का प्रयास करे। एकांतवास करने का अभ्यास करे। साधना के अनुकूल स्थान में रहने से साधक अपने चारित्र को सुरक्षित रखने में सफल हो सकता है और आगे बढ़ते-बढ़ते अष्ट कर्मों का नाश करने वाला हो सकता है।

उत्तराध्ययन के 29वें अध्ययन पर आधारित प्रवचनमाला

- धर्म से क्या मिलेगा ?
- क्षमा से क्या मिलेगा ?
- संयम से क्या मिलेगा ?
- वंदना से क्या मिलेगा ?
- स्वाध्याय से क्या मिलेगा ?
- सामायिक से क्या मिलेगा ?
- कायोत्सर्ग से क्या मिलेगा ?
- प्रायश्चित्त से क्या मिलेगा ?

आदि मन में संशय पैदा करने वाले
अनेक प्रश्नों के समाधान हैं प्रस्तुत पुस्तक में ...

www.acharyamahashraman.in

₹ 100